नमः सूर्याय सोमाय मंगलाय बुधाय च
गुरुशुक्रशनिभ्यश्च राहवे केतवे नमः।

P L Sapru c/o Nirex Industries
~~28~~ 70/C. TILJALLA Road.
Cal - 46.

ॐ

साम्बपञ्चाशिका

भाषाटीका सहित

संपादक

श्री स्वामी ईश्वर स्वरूप जी (ब्रह्मचारी लक्ष्मण जी)

ईश्वर-आश्रम,

ईश्वर-पर्वत, गुप्तगंगा, श्रीनगर।

प्रकाशक

पं० जिया लाल कौल एम० ए०, प्रभाकर

मुख्य संस्कृत-हिन्दी-अध्यापक,

श्री प्रताप कालेज, श्रीनगर।

श्रीनगर, कश्मीर, संवत् २०००.

[प्रथम बार] [मूल्य आठ आ]

और शारदा-पीठ के
क थे और अब भी
इस की अपेक्षा
निवासी सदा से
त सरोवर के तटों
जगहें हैं वे बड़े
माता तथा गुरुकुलों से
के खुले आंगन में
पूर्ण रूप में अभिज्ञ
जहां वे कालान्तर
भ उठाते थे वहां
ा। वे एक विशाल
ा कि वह साहित्य
पुनीत सम्पत्ति बन
र न केवल लौकिक
सकते हैं वरन
में गोता लगा

माजिक क्रान्तियों के
ा खाया उस के
टने लगी, जिन में
रता था, जिस से

प्रनष्ट वायुसञ्चार:
पाषाण इव निश्चल:
परजीवैक्य धर्मज्ञो
योगी योगविदुच्यते ॥

पूर्णानन्दस्वभाव: स्वजनहितकृते
मायया पात्तकाय:
कारुण्यादुद्दिधीर्षु: जनमनवरतं
मोहपंके निमग्नम् ।
विघ्नयान्तर्विलिष्टं बहिरपि कलयन्
शिष्यभावं विधेन
य: संवेदन प्रज्ञामृत जलधिमग्न:
रामचन्द्रं प्रपद्ये ॥

↓

शान्तामृते

प्राक्कथन

बहुत प्राचीन काल से कश्मीर ऋषि-भूमि और शारदा-पीठ के नामों से प्रसिद्ध है। इस के ये नाम तब भी सार्थक थे और अब भी हैं। कहीं कहीं इसे भूस्वर्ग भी कहते हैं, किन्तु हमें इस की अपेक्षा पहले दो नाम ही अधिक प्यारे हैं। इस प्रान्त के निवासी सदा से शारदा अर्थात् सरस्वती के उपासक होते आये हैं। डल सरोवर के तटों के आस पास और अन्य स्थानों पर जो बहुत सुन्दर जगहें हैं वे बड़े बड़े कश्मीरी ऋषियों, कवियों और तार्किकों के आश्रमों तथा गुरुकुलों से सुशोभित होती थीं। वे लोग वहां प्रकृति देवी के खुले आंगन में निवास करते थे और इस के तत्त्वों और रहस्यों से पूर्ण रूप में अभिज्ञ हो कर ब्रह्म-ज्ञान के पारंगत हो जाते थे। इस प्रकार जहां वे कालान्तर में परम-पद को प्राप्त कर के अपना व्यक्तिगत लाभ उठाते थे वहां उन्हों ने लोकोपकार की बात को भी नहीं भुलाया। वे एक विशाल साहित्य अपने पीछे छोड़ गये हैं और कहना न होगा कि वह साहित्य अब सारे साहित्यिक संसार की बहुमूल्य और पुनीत सम्पत्ति बन गई है। इस साहित्य के सागर में डुबकी लगा कर न केवल लौकिक ज्ञान और सुख चाहने वाले लोग ही लाभ उठा सकते हैं वरन् पारमार्थिक लाभ और उन्नति के इच्छुक भी इस में गोता लगा कर अपने जीवन को सार्थक बना सकते हैं।

चिरकाल से राजनीतिक, धार्मिक और सामाजिक क्रान्तियों के होते रहने से कश्मीर के इतिहास ने जो पलटा खाया उस के फलस्वरूप यहां के उन ऋषि-आश्रमों की संख्या घटने लगी, जिन में वह अलौकिक ज्ञानोपदेश का स्रोत सदा बहा करता था, जिस से

असंख्य जिज्ञासुओं की पिपासा शान्त हो जाती थी। ॐ जो स्थान पहले ऋषियों के निवासस्थान और पारमार्थिक ज्ञान के केन्द्र हुआ करते थे वे अब विश्राम-स्थल और सैर करने के स्थान बनने लगे। अब लोग वहां आध्यात्मिक लाभ के लिये नहीं बल्कि लौकिक सुख की प्राप्ति की इच्छा से जाने लगे।

ऐसे ही सुन्दर स्थानों में से ईश्वर (इशबर) नामक एक पार्वतीय स्थान भी है जो डल सरोवर के तट के समीप है। सौभाग्य से वहां दो सुन्दर आश्रम बन गये हैं। एक में श्री स्वामी ईश्वर स्वरूप जी (ब्रह्मचारी लक्ष्मण जी) निवास करते हैं और दूसरे में उन की शिष्या ब्रह्मवादिनी शारिका देवी जी रहती हैं। इन दोनों महात्माओं का जन्म कश्मीरी पंडितों के प्रतिष्ठित और समृद्धिशाली घरानों में हुआ है और दोनों को सुख की सामग्रियां उपलब्ध थीं। दोनों के माता-पिता ने इन्हें सांसारिक सुखों के उपभोग की ओर आकृष्ट करने का भरसक प्रयत्न किया, पर भगवान् बुद्ध के माता-पिता की भान्ति उन का प्रयास निष्फल रहा। दोनों महात्माओं ने बाल्यावस्था में ही सांसारिक संपत्तियों का परित्याग किया और सच्चे तथा पूर्ण वैराग्य का आश्रय ले कर नगर से बाहिर अपने आश्रमों में रहने लगे। स्वामी ईश्वर स्वरूप जी के आश्रम में समय समय पर होने वाली धर्म-चर्चा और शास्त्र-अध्ययन को देख कर हमें प्राचीन ऋषि-

---

ॐ पाठकों को यह न समझना चाहिए कि यहां ऋषियों और उन के आश्रमों का सर्वथा अभाव होने लगा है। इस 'घोर कलि-काल' में भी श्रीनगर में कई उत्तम ऋषि-आश्रम हैं, जिन में से दो विशेषत: उल्लेखनीय हैं—एक श्री स्वामी श्रीधर जुव का, जो वेदान्त-विषयक शास्त्रों का प्रतिदिन व्याख्यान करते हैं और दूसरा श्री स्वामी महताब जुव का, जहां शैव-शास्त्रों का पठन-पाठन होता है। इन दोनों आश्रमों से बड़ा धर्मप्रचार और लोकोपकार होता है।

आश्रमों की स्मृति हो आती है। भगवती शारिका देवी जी के आश्रम में हमें ललेश्वरी और रूपभवानी आदि के आश्रमों का आभास मिलता है। इस प्रकार प्राचीन मर्यादा का पालन करने और उस को स्थिर तथा सुरक्षित रखने का मानो नये सिरे से श्रीगणेश हुआ है।

कुछ समय हुआ स्वामी ईश्वर स्वरूप जी ने अभिनवगुप्त-कृत टीका सहित श्रीमद्भगवद्गीता का संपादन किया और उस को प्रकाशित किया। साहित्यिक जगत ने उस ग्रंथ का बड़ा आदर किया। अब अपने शिष्यों विशेषतः अपनी मुख्य शिष्या ब्रह्मवादिनी शारिका देवी जी के सविनय अनुरोध और प्रार्थना करने पर तथा लोकोपकार के विचार से इन्हों ने 'सांबपंचाशिका' ऐसी सारगर्भित पुस्तक का बड़े उत्तम, सरल और उपयोगी ढंग पर संपादन किया है। इसी पुस्तक को प्रकाशित कर के पाठकों की भेंट किया जा रहा है। इस का भाषा-टीका सहित ऐसा उत्तम संस्करण पहले कहीं नहीं छपा है। संपादक महोदय जहां एक उच्च कोटि के योगी और महात्मा हैं वहां ये अपने अगाध पांडित्य, अध्ययन और शास्त्र-ज्ञान आदि के लिए भी यशस्वी बन चुके हैं। जिन लोगों को इन के श्रीचरणों में कुछ क्षणों के लिए भी बैठ कर लाभ उठाने का अवसर मिलता है वे इन बातों को भली भान्ति जानते हैं। यही कारण है कि 'साम्बपंचाशिका' का यह संस्करण बहुत ही उत्कृष्ट हुआ है।

इस संस्करण की भाषा-टीका आदि विशेषताओं की उपयोगिता के विषय में कुछ कहने की आवश्यकता नहीं। पाठक इस का स्वयं अनुभव कर सकते हैं। पाद-टिप्पणियां तो विशेष रूप में महत्वपूर्ण और उपयोगी हैं। सामान्य योग्यता का मनुष्य भी इन की सहायता से मूलग्रंथ में कही गई सभी गूढ़ बातों को सुगमता से समझ सकता

है। आशा है कि पाठक इस से बहुत लाभ उठायेंगे और संपादक महोदय के प्रयास को सफल बनायेंगे। इस प्रकार जिस उद्देश्य से यह पुस्तक प्रकाशित की जाती है उस की पूर्ति होगी।

जिया लाल कौल

प्रकाशक

भूमिका

'सांबपंचाशिका' आध्यात्मिक विषय का एक बहुत ही प्राचीन, महत्वपूर्ण और सारगर्भित ग्रंथ है। इसमें चित्-सूर्य की बहुत सुन्दर रूप में स्तुति की गई है और उसकी महिमा का बखान किया गया है। कुछ श्लोकों में बड़े रोचक, अनूठे और विलक्षण रूप में उद्धार के लिए उस से विनती की गई हैं। इसके रचयिता भगवान् श्रीकृष्ण के सुपुत्र श्री साम्ब जी हैं। यह बात न केवल पुस्तक के नाम से विदित होती है बल्कि इस की पुष्टि कई अन्य बातों से भी होती है। साम्बपञ्चाशिका का जो छपा हुआ संस्करण इस समय मिलता है उसके पहले पृष्ठ पर दी गई पाद-टिप्पणी में संपादकों ने वाराह-पुराण से दो श्लोक इसी बात को सिद्ध करने के लिए उद्धृत किये हैं। पाठकों की जानकारी के लिए वे नीचे दिये जाते हैं :—

'ततः साम्बो महाबाहुः कृष्णाज्ञप्तो ययौ पुरीम्।
मथुरां मुक्तिफलदां रवेराराधनोत्सुकः ॥'

....

'साम्ब पंचाशकैः श्लोकैर्वेदगुह्यपदाक्षरैः।
यत्स्तुतोऽहं त्वया वीर तेन तुष्टोऽस्मि ते सदा ॥'

(वाराह पुराण, १७१ अध्याय)

इन श्लोकों से प्रतीत होता है कि साम्ब जी ने श्रीकृष्ण जी के कहने पर 'साम्बपंचाशिका' नामक सूर्य-देवता की स्तुति रची। इसी पुस्तक के दूसरे पृष्ठ पर पहले श्लोक की अवतरणिका में और छब्बीसवें पृष्ठ पर बावनवें श्लोक की टीका में टीकाकार राजानक क्षेमराज ने भी लिखा है कि भगवान् कृष्ण के पुत्र सांब जी ही इस ग्रंथ के रचयिता हैं।

श्री सांब जी ने किस उद्देश्य से इस ग्रंथ की रचना की, उन्हों ने कोई और ग्रंथ भी लिखा था नहीं, इन बातों का निश्चित रूप में कुछ पता नहीं

चलता। संस्कृत के अन्य प्राचीन कवियों की भान्ति उन्हों ने अपने विषय में कहीं कुछ नहीं कहा है। कोई ऐसी ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध नहीं है जो इन बातों पर प्रकाश डाल सके। किन्तु इस संबंध में जनश्रुतियों के आधार पर जो कथा सुनी जाती है वह यहां लिखी जाती है। एक बार साम्ब जी को उदर का रोग हुआ। जब सामान्य रीति से चिकित्सा करने पर उनका रोग ठीक न हुआ तो अपने पिता भगवान् कृष्ण ने उन्हें सूर्य की स्तुति करने को कहा। इस पर साम्ब जी ने भौतिक सूर्य को छोड़ कर चित्-सूर्य की स्तुति करने का निश्चय किया। उनके इसी निश्चय के फल-स्वरूप 'साम्बपंचाशिका' का आविर्भाव हुआ। कहा जाता है कि इस पुस्तक के लिखने पर उनका रोग ठीक हुआ।

'सांबपंचाशिका' ऐसे गूढ़ विषय के ग्रंथ का समझना सर्व-साधारण के लिए कठिन है। सौभाग्य से कश्मीर के प्रसिद्ध लेखक और टीकाकार राजानक श्री क्षेमराज ने इस पर एक उत्तम और विस्तृत टीका संस्कृत में लिखी है। इस समय इस पुस्तक का जो छपा हुआ संस्करण उपलब्ध है उसमें यही टीका दी गई है। किन्तु भाषा-टीका सहित इसका कोई संस्करण अब तक नहीं छपा है, इस लिए इसके प्रकाशित करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। फलतः यह पाठकों की भेंट किया जाता है।

पूछा जा सकता है कि संस्कृत टीका के होते हुए हिन्दी टीका की क्या आवश्यकता थी। हमारा कहना है कि संस्कृत-टीकाओं को समझ सकने वाले तथा संस्कृत जानने वाले लोगों की संख्या ही आज-कल कितनी है। इसलिए प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद किसी ऐसी देश-भाषा में प्रकाशित करने से लोगों का उपकार हो सकता है जिसे वे अधिक से अधिक संख्या में समझ सकें। कुछ ऐसे ग्रंथों के अंग्रेज़ी अनुवाद सहित संस्करण भी निकल चुके हैं, पर अंग्रेज़ी जैसी क्लिष्ट भाषा का प्रयोग और समझना थोड़े पढ़े-लिखे लोगों तक ही

सीमित है। दूसरे विदेशी भाषा होने के कारण यह हमारे काम की चीज़ नहीं हो सकती। इधर हिन्दी सारे भारत में जनता की बोल-चाल तथा व्यवहार की भाषा के रूप में दिन प्रति दिन लोकप्रिय होती जाती है और इसके समझने वालों की संख्या अन्य सभी देश-भाषाओं के समझने वालों से अधिक है। इस कारण से हिन्दी ही संस्कृत ग्रंथों के समझने में सब से उत्तम माध्यम का काम दे सकती है। यदि हम चाहते हैं कि संस्कृत पुस्तकों और शास्त्रों का अध्ययन अधिक से अधिक लोग कर सकें तो इस बात की अत्यन्त आवश्यकता है कि संस्कृत साहित्य रूपी बहुमूल्य कोष का द्वार सर्व-साधारण के लिए खुला रखने की चेष्टा की जाय और हिन्दी-टीका रूपिणी कुंजी से इसे खोल कर लाभ उठाने का उसे अवसर दिया जाय। कल्याण-कार्यालय, गोरखपुर ऐसी देश की बहुत सी संस्थाओं ने इस बात के महत्व को समझ लिया है और वे उपयोगी तथा धार्मिक ग्रंथों के हिन्दी-टीका सहित संस्करण प्रकाशित करने लगी हैं, जिन से जनता बड़ा लाभ उठा रही है। इसी कारण से हिंदी-टीका सहित यह पुस्तक लोकोपकार के उद्देश्य से प्रकाशित की जाती है।

जिस ढंग पर इस पुस्तक का संपादन किया गया है उसके संबंध में एक दो शब्द कहने शेष रह जाते हैं। सब से पहले मूल ग्रंथ का श्लोक दिया गया है। उसके बाद उसका अन्वय दिया गया है जिस में संधिच्छेद और समास शब्दों का पदच्छेद आदि दिखाये गये हैं। अन्वय समझाने के लिए कुछ ऐसे शब्दों का कहीं कहीं समावेश किया गया है जो मूल श्लोक में नहीं हैं। ऐसे शब्दों को कोष्ठकों के बीच में रखा गया है। संस्कृत के विद्यार्थियों को सब से बड़ी कठिनाई पदच्छेद करने में होती है, अतः सामान्य योग्यता के पाठकों को इस से बड़ी सुगमता होगी। अन्वय के नीचे श्लोक का हिन्दी अनुवाद दिया गया है। इस अनुवाद में वाक्यों की रचना का क्रम श्लोक के

अन्वय के अनुसार ही यथासंभव रखा गया है। शब्दार्थ के अतिरिक्त श्लोक के भावार्थ अर्थात् आशय को स्पष्ट तथा पूर्ण रूप में व्यक्त करने के लिए अथवा वाक्य की पूर्ति के लिए कहीं कहीं जिन वाक्यों, वाक्यांशों या शब्दों के जोड़ने की आवश्यकता पड़ी है उनको कोष्ठकों में रखा गया है। इस प्रकार पाठक को प्रत्येक श्लोक के सभी शब्दों के अर्थों और उसके पूर्ण आशय को समझने में सुबीता रहेगा। श्लोकों के अंत में पाद-टिप्पणियां दी गई हैं, जिन में वे बातें संक्षिप्त और सरल भाषा में कही गई हैं, जिन का जानना कवि के आशय को समझने के लिए आवश्यक तथा लाभदायक है और जो अनुवाद में नहीं आ सकीं। मूल श्लोक में कहीं कहीं जो पारिभाषिक शब्द आये हैं अथवा योग-क्रिया की जिन विशेष बातों की ओर संकेत किया गया है, उनकी भी संक्षेप में विशद व्याख्या की गई है।

कहा जा सकता है कि इस पुस्तक की हिन्दी टीका में उन सभी बातों का समावेश नहीं हुआ है जो श्री क्षेमराज ने अपनी टीका में लिखी हैं। इसके उत्तर में यह कहना पर्याप्त होगा कि गूढ़ आशय के साथ संबंध रखने वाली कुछ बातें सर्व-साधारण की समझ से बाहिर होने के कारण नहीं कही गई हैं। इनमें से कुछ बातें तो ऐसी हैं जिनको प्रत्यक्ष या व्यक्तिगत अनुभव द्वारा ही समझा जा सकता है। आशा की जाती है कि अनुवाद और पाद-टिप्पणियों में जो कुछ कहा गया है वह सामान्य रूप में पाठकों की आवश्यकता की पूर्ति के लिए पर्याप्त होगा। इस से अधिक जानने की जिन्हें इच्छा हो वे गुरु-मुख से जान सकते हैं।

इस पुस्तक के लिखने, प्रूफ-संशोधन करने तथा प्रकाशित करने में पं० जिया लाल कौल एम० ए०, प्रभाकर और श्रीमती प्रभा देवी मट्टू प्रभाकर (सुपुत्री पं० जिया लाल सोपोरी, भूतपूर्व इंजिनियर और धर्मपत्नी पं० मोती लाल जी मट्टू बी० ए०) ने कई तरह से

मेरी सहायता की है। अतः ये दोनों मेरे धन्यवाद के पात्र हैं। ईश्वर करे कि जिस संसार-यात्रा पर श्रीमती प्रभा देवी जी ने हाल ही में पदार्पण किया है उस में वह सफल हो। जिया लाल जी के लिए मेरे विचार में यही अच्छा होगा कि वे सांसारिक सुखों को तुच्छ और नश्वर समझ कर उन्हें तिलांजलि देने का प्रयत्न करें और ईश्वर पर्वत या किसी दूसरे एकान्त स्थान पर छोटी सी कुटिया बना कर उसमें, जब कभी अवसर मिले, ईश्वर-चिन्तन करें। मैं समझता हूं कि यही आशीर्वाद इन दोनों के लिए उपयुक्त हैं और इन्हें पा कर ये अपने काम का पुरस्कार पायेंगे।

ईश्वर-आश्रम,
ईश्वर पर्वत,
गुप्तगंगा, श्रीनगर।

शिवभक्तों का अनुचर,
लक्ष्मण

١٥٨ کرم

Objective reality

چندرما

पुण्नन्दे वानमृत विसरै रिन्दुमास्राव्य सम्य-
ग्भाभिः स्वाभी रसयति रसैर्यः
परं नित्यमेव ।
क्षीणं क्षीणं पुनरपि च तं पूरयत्येवमीढ्व-
दोलालीलोल्लसितहृदयं
नौमि चिद्भानुमेकम् ॥

اس ایک سوریہ بھگوان کو نمسکار کرتا ہوں۔ جو
چندرما کو اچھی طرح اپنا چندا آنند روپی امرت سینچن
کر کے۔ اس چندرما کے ذریعہ دیوتاؤں کو پان پوشن ہوتا
(آنند ہوتا ہے)
جو اس پھر چندرما کو اپنے کرنوں سے اس
پریم سے پھر واپس لیتا ہے۔ جب وہ کھین ہو جاتا ہے
(گھٹ جاتا) پھر امرت سینچن کرتا ہے۔ اس طرح
کی جھولے کی لیلا برتنے والے ہردے والے اس
چت سوریہ کو میں نمسکار کرتا ہوں

subject object

cognitive

साम्बपञ्चाशिका

*शब्दार्थत्वविवर्तमानपरमज्योतीरुचो गोपते-
रुद्गीथोऽभ्युदितः पुरोऽरुणतया यस्य †त्रयीमण्डलम् ।
भास्वद्वर्णपदक्रमेरिततमः सप्तस्वराश्वैर्विय-
द्विद्यास्यन्दनमुन्नयन्निव, नमस्तस्मै परब्रह्मणे ॥१॥

तस्मै पर-ब्रह्मणे नमः (अस्तु), शब्द-अर्थत्व-विवर्तमान-परम-ज्योतिः-रुचः यस्य गोपतेः त्रयी-मण्डलं भास्वत्-वर्ण-पद-क्रम-ईरित-तमः, सप्त-स्वर-अश्वैः वियत्-विद्या-स्यन्दनम् उन्नयन् इव उद्गीथः पुरः अरुणतया अभि-उदितः (अस्ति) ॥१॥

उस परब्रह्म परमात्मा को नमस्कार हो, जो (परब्रह्म रूपी) सूर्य शब्दों तथा (उन के) अर्थों से प्रवर्तित हुई परम ज्योति की कान्ति से युक्त है, जिस का वेद-त्रयी रूपी मण्डल सुन्दर वर्णों और पदों रूपिणी चमकीली किरणों के क्रम से तमोगुण रूपी अन्धकार को नष्ट करता है, जो सात स्वरों रूपी घोड़ों से चित् रूपी आकाश में विद्या रूपी रथ को चलाता है और ओम-स्वरूप अरुण के प्रकट होने पर उदय करता है ॥१॥

---

१ *पौराणिक कथाओं में सूर्य देवता का इस प्रकार वर्णन किया गया है कि वह एक रथ में बैठ कर आकाश में विचरण करता है । अरुण नाम का सारथि और हरे रंग के सात घोड़े उस रथ को चलाते हैं । कवि ने इस श्लोक में बाह्य सूर्य के इसी रूप के आधार पर आन्तरिक सूर्य का रूप अंकित किया है ।

१. † ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद को वेद-त्रयी कहते हैं ।

ओमित्यन्तर्नदति नियतं यः प्रतिप्राणि शब्दो
*वाणी यस्मात्प्रसरति परा शब्दतन्मात्रगर्भा ।
प्राणापानौ वहति च समौ †यो मिथो ग्राससक्तौ
देहस्थं तं सपदि परमादित्यमाद्यं प्रपद्ये ॥२॥

(अहं) देहस्थं तम् आद्यं परम-आदित्यं सपदि प्रपद्ये, यः प्रति-प्राणि ओम्-इति शब्दः अन्तर् नियतं नदति, यस्मात् शब्द-तन्मात्र-गर्भा परा वाणी प्रसरति, यः च मिथः ग्रास-सक्तौ प्राणापानौ समौ वहति ॥२॥

मैं शरीर में ठहरे हुए उस ज्येष्ठ और उत्तम सूर्य को शीघ्र ही प्रणाम करता हूँ, जो प्रत्येक प्राणी के हृदय में 'ओम' शब्द का निरन्तर उच्चारण करता है, जिस से शब्द-तन्मात्र-गर्भित (पश्यन्ती नाम वाली) दूसरी वाणी प्रसरित होती है और जो एक दूसरे का, ग्रास करने में लगे हुए प्राण और अपान को साम्य-भाव से धारण करता है ॥२॥

---

२ *शास्त्रों में वाणियां चार प्रकार की कही गई हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। 'पश्यन्ती' वाणी हृदयाकाश में निर्विकल्प-भाव से स्वयं उच्चरित होती है। इस का अनुभव तो योगी-जन ही कर सकते हैं।

२ † ईश्वर के अनुग्रह से ही, प्राण और अपान के बीच वाले आकाश में विमर्श करने से, वे प्राण और अपान मध्य-नाड़ी में स्वयं ही लय हो जाते हैं। तदनन्तर ही योगी को उस परम-आदित्य अर्थात् चित् रूपी सूर्य की स्थिति का अनुभव होता है।

३ * पौराणिक कथा के अनुसार बारह आदित्यों अर्थात् बारह मासों को सूचित करने वाले बाह्य सूर्य के बारह रूपों का उल्लेख किया जाता है। इसी प्रकार चित्-सूर्य के भी बारह रूप कहे गये हैं, जो त्वचा आदि हैं। चूंकि मन और बुद्धि का एक दूसरे के साथ बड़ा अकाट्य

यस्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणपाण्यङ्घ्रिवाणी-
पायूपस्थस्थितिरपि मनोबुद्ध्यहंकारमूर्तिः ।
तिष्ठत्यन्तर्बहिरपि जगद्भासयन्द्वादशात्मा*
मार्तण्डं तं सकलकरणाधारमेकं प्रपद्ये ॥३॥

(अहं) तम् एकं सकल-करण-आधारं मार्तण्डं प्रपद्ये, यः बहिर् त्वक्-चक्षुः-श्रवण-रसना-घ्राण-पाणि-अङ्घ्रि-वाणी-पायु-उपस्थ-स्थितिः अपि, अन्तर् मनः-बुद्धि-अहंकार-मूर्तिः—(इत्येवं) द्वादश-आत्मा (सन्) जगत् भासयन् तिष्ठति ॥३॥

मैं उस अद्वितीय (चित् रूपी) सूर्य को प्रणाम करता हूँ, जो सभी (अर्थात् बारह) इन्द्रियों का आधार है, जो बाहिर से त्वचा, आंख, कान, जिह्वा, नाक, हाथ, चरण, वाणी, पायु और उपस्थ में स्थित हो कर भी भीतर से मन, बुद्धि और अहंकार की मूर्ति को धारण किये हुए है और जो (इस प्रकार) बारह रूपों वाला हो कर जगत् को चमकाते हुए ठहरा हुआ है ॥३॥

संबन्ध है, या यों कहा जाय कि दोनों एक ही वस्तु के दो नाम हैं, इसलिए इन दोनों को एक ही इन्द्रिय अर्थात् एक ही रूप माना जा सकता है। अतः ऊपर कहे गये इन सब रूपों की संख्या बारह ही है और तेरह नहीं है।

४ * 'सूर्य और वरुण के घर' से अभिप्राय है 'मध्य-धाम' का, जो प्राण-अपान का उत्पत्ति-स्थान है और अग्नीषोमात्मक और परा-वाणी का ही एक पर्याय-वाची शब्द है। 'सूर्य' शब्द में गरमी की प्रधानता के कारण अग्नि की ओर और 'वरुण' शब्द में सरदी की प्रधानता के कारण सोम अर्थात् चन्द्रमा की ओर संकेत है। यह कहना अप्रासंगिक न होगा कि वरुण जल का देवता कहा जाता है।

या सा *मित्रावरुणसदनादुच्चरन्ती †त्रिषष्टिं
वर्णानत्र प्रकटकरणैः प्राणसङ्गात्प्रसूतान् ।
तां पश्यन्तीं प्रथममुदितां मध्यमां बुद्धिसंस्थां
वाचं वक्त्रे करणविशदां वैखरीं च प्रपद्ये ॥४॥

(अहं) तां प्रथमम् उदितां पश्यन्तीं वाचं, बुद्धि-संस्थां मध्यमां (वाचं) वक्त्रे च करण-विशदां वैखरीं (वाचं) प्रपद्ये, या सा (तालु-आदि-स्थान-प्रयत्न-रूपात्) प्राण-सङ्गात् प्रसूतान् त्रिषष्टिं वर्णान् अत्र मित्र-वरुण-सदनात् प्रकट-करणैः उच्चरन्ती (स्थिता अस्ति) ॥४॥

मैं उस (परा वाणी) को नमस्कार करता हूँ, जो प्राणों के (तालु आदि स्थानों के प्रयत्न रूपी) संग से उत्पन्न हुए तिरसठ अक्षरों का, सूर्य और वरुण के घर से प्रकट इन्द्रियों के द्वारा, उच्चारण करती है और जो पहिले उदित होने पर 'पश्यन्ती' वाणी का (फिर) बुद्धि में स्थित होने पर 'मध्यमा' वाणी का और (उसके बाद) बोलने में इन्द्रियों के द्वारा स्पष्ट अक्षरों वाली 'वैखरी' वाणी का (रूप) धारण करती ॥४॥

---

४ † व्याकरण की दृष्टि से अ, इ, उ और ऋ अक्षरों के ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के भेद से बारह रूप होते हैं। लृ अक्षर के ह्रस्व और प्लुत के भेद से दो रूप होते हैं । ए, ऐ, ओ और औ अक्षरों के दीर्घ और प्लुत के भेद से आठ रूप होते हैं। स्पर्श २५, अन्तस्थ ४ और ऊष्म ४ अक्षर होते हैं। यम अर्थात् कुं, खुं, गुं और घुं ४ अक्षर होते हैं। अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय ४ अक्षर हैं । इस प्रकार कुल अक्षरों की संख्या ६३ बनती है ।

ऊर्ध्वाधःस्थान्यतनुभुवनान्यन्तरा संनिविष्टा

*नानानाडिप्रसवगहना सर्वभूतान्तरस्था ।

प्राणापानग्रसननिरतैः प्राप्यते ब्रह्मनाडी

सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना ॥५॥

सा ब्रह्मनाडी (रूपिणी) श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसन्ना भवतु, (या) ऊर्ध्व-अधःस्थानि अतनु-भुवनानि अन्तरा संनिविष्टा, (या) नाना-नाडि-प्रसव-गहना, (या) सर्व-भूत-अन्तरस्था (या च) प्राण-अपान-ग्रसन-निरतैः (योगिभिः) प्राप्यते ॥ ५ ॥

वह ब्रह्मनाडी (रूपिणी) निर्मल सूर्य की मूर्ति हम पर प्रसन्न हो, जो ऊपर और नीचे होने वाले अनेक भुवनों के मध्य में ठहरी हुई है, जो अनेक नाड़ियों के होने से घनी बन हुई है, जो सब प्राणियों के हृदय में वास करती है और जो प्राण और अपान का ग्रास करने में लगे हुए (योगियों) को प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

---

५ * मनुष्य के शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियां होती हैं । इन में से मुख्य नाड़ी को 'ब्रह्मनाड़ी' कहते हैं । इसी ब्रह्मनाड़ी रूपी धागे में अन्य सभी नाड़ियां माला के दानों की भान्ति पिरोई हुई होती हैं ।

ब्रह्मनाड़ी और चित्-देवता में कोई भेद नहीं है । ब्रह्मनाड़ी का अनुभव होने पर ही समस्त भुवनों का ज्ञान होता है । इस कारण से सभी भुवन भी ब्रह्मनाड़ी के ही अन्तर्गत कहे जा सकते हैं ।

६ * बाह्य सूर्य की मूर्ति ब्रह्माण्ड से भिन्न ठहर ही नहीं सकती, पर आत्मिक सूर्य की मूर्ति ब्रह्माण्ड के मार्ग से अव्यवहित है । इधर यह सूर्य तो जाड़े और गरमी की ऋतुओं में सरदी और गरमी के

न *ब्रह्माण्डव्यवहितपथा नातिशीतोष्णरूपा
नो वा नक्तंदिवगममितातापनीयापराहुः ।
वैकुण्ठीया तनुरिव रवे राजते मण्डलस्था
सा नः श्वेता भवतु परमादित्यमूर्तिः प्रसन्ना ॥६॥

सा श्वेता परम-आदित्य-मूर्तिः नः प्रसन्ना भवतु, या ब्रह्माण्ड-व्यवहित-पथा न (भवति), (या) अति-शीत-उष्ण-रूपा न (अस्ति), (या) नक्तं-दिव-गम-मिता न (भवति), (या) अतापनीया अपराहुः (च अस्ति या) वा रवेः मण्डलस्था वैकुण्ठीया तनुः इव राजते ॥६॥

वह सर्वोत्कृष्ट भास्कर की निर्मल प्रतिमा हम पर प्रसन्न हो, जो ब्रह्माण्ड के मार्ग से अव्यवहित है, जो न अधिक ठंढी है और न अधिक गरम है, जो रात और दिन के चक्कर से मुक्त है, जो संताप न देने वाली और राहु के ग्रास से छूटी हुई है, जो (चित् रूपी) सूर्य के मण्डल में शोभायमान है और जो (इस प्रकार) विष्णु की (वामन-अवतार-संबन्धिनी) मूर्ति के समान है ॥ ६ ॥

भाव से युक्त होता है, पर उधर वह सूर्य अधिक सरदी या अधिक गरमी के विकार से रहित है। रात और दिन के होने पर बाह्य सूर्य अस्त तथा उदित होता है, पर आत्मिक सूर्य रात्रि तथा दिन के चक्कर में ही नहीं पड़ता। ऐहिक सूर्य की मूर्ति तो परिमित है, पर आत्मिक सूर्य की मूर्ति अपरिमित है। इस सूर्य की मूर्ति तो सरदी और गरमी के कारण संताप देती है, पर वह सूर्य आह्लाद तथा आनन्द वितरण करता है। इसके अतिरिक्त बाह्य सूर्य राहु से ग्रस्त हो जाता है, पर आन्तरिक सूर्य राहु के फंदे में कभी पड़ता ही नहीं। अतः यह बात स्पष्ट ही है कि इन दोनों सूर्यों में परस्पर कितना वैषम्य है।

यत्रारूढं त्रिगुणवपुषि ब्रह्म *तद्बिन्दुरूपं
योगीन्द्राणां यदपि †परमं भाति निर्वाणमार्गः ।
त्रय्याधारः प्रणव इति यन्मण्डलं चण्डरश्मे-
रन्तः *सूक्ष्मं बहिरपि बृहन्मुक्तयेऽहं प्रपन्नः ॥७॥

अहं मुक्तये तत् चण्डरश्मेः मण्डलं प्रपन्नः (अस्मि), यत्र त्रिगुण-वपुषि तत् बिन्दु-रूपं ब्रह्म आरूढम्, यत् अपि योगीन्द्राणां परमं निर्वाण-मार्गः भाति, यत् त्रयी-आधारः प्रणवः-इति (उच्यते) यत् च अन्तर् सूक्ष्मम् (एवं) बहिर् बृहत् अपि अस्ति ॥७॥

मैं मुक्ति (की प्राप्ति) के लिए (उस) सूर्य के मण्डल की शरण में जाता हूँ, जिस के (सृष्टि-स्थिति-संहार रूपी, या अकार-उकार-मकार रूपी, या प्राण-अपान-समान रूपी, या सत्त्वगुण, रजोगुण और तमोगुण रूपी) तीन गुणों से युक्त (प्रणव के) रूप में बिन्दु रूपी ब्रह्म स्थित है, जो बड़े बड़े योगियों को श्रेष्ठ (अर्थात् सच्चे) मोक्ष का उपाय दीख पड़ता है, जो ओंकार के रूप में तीन वेदों (ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद) का आधार है और जो भीतर से सूक्ष्म तथा बाहिर से महान् है ॥७॥

---

७ * सृष्टि-स्थिति-संहार, अकार-उकार-मकार और प्राण-अपान-समान के अविभक्त प्रकाश को बिन्दु कहते हैं ।

७ † वैष्णव आदि द्वैतवादी जिस मुक्ति को प्राप्त करना चाहते हैं, वह 'अपरा' अर्थात् असत्य मुक्ति ही कही जा सकती है, क्योंकि वह सच्ची मुक्ति न होकर उस का आभास-मात्र ही होती है । इस के प्रत्युत अद्वैतवादियों के दृष्टि-कोण से जिस मुक्ति को वाञ्छनीय कहा जाता है, वही 'परा' अर्थात् सच्ची मुक्ति है और उसी की ओर यहां संकेत है । ❋

*यस्मिन्सोमः सुरपितृनरैरन्वहं पीयमानः
क्षीणः क्षीणः प्रविशति यतो वर्धते चापि भूयः।
यस्मिन्वेदा मधुनि सरघाकारवद्भान्ति चाग्रे
तच्चण्डांशोरमितममृतं मण्डलस्थं प्रपद्ये ॥८॥

(अहं) तत् चण्डांशोः मण्डलस्थम् अमितम् अमृतं प्रपद्ये, यस्मिन् सुर-पितृ-नरैः अन्वहं पीयमानः (इत्येवं) क्षीणः क्षीणः सोमः प्रविशति, यतः च अपि भूयः वर्धते, यस्मिन् च वेदाः मधुनि सरघा-आकार-वत् अग्रे भान्ति ॥८॥

मैं उस (चित्स्वरूप) सूर्य के मण्डल में स्थित (परमानन्द रूपी) अमित अमृत को प्रणाम करता हूँ; जिस में देवताओं, पितरों और मनुष्यों से सदा पिया जाने वाला (और इसी लिए क्रम-पूर्वक) क्षीण होता हुआ (प्राण-अपान रूपी) चन्द्रमा प्रवेश करता है, जिस (के सम्पर्क मात्र) से (वह चन्द्रमा) फिर अपने ही परिपूर्ण-भाव को प्राप्त होता है और जिस के आगे आगे वेद ऐसे ही दीख पड़ते हैं, जैसे शहद पर मधुमक्खियां ॥८॥

---

*वैष्णव आदि द्वैतवादियों और अद्वैतवादियों की मुक्ति के लक्षणों और स्वरूपों में क्या भेद है—यह बात विस्तार-भय से नहीं लिखी जाती है।

७ ‡ आध्यात्मिक सूर्य के दो रूप हैं, स्थूल और सूक्ष्म। बाहर से विश्वाकार होने के कारण उस का रूप स्थूल है और भीतर से 'प्राथमिक आलोचन' का स्वरूप होने से उस का रूप सूक्ष्म है। प्रत्येक वस्तु के देखने से पूर्व उस वस्तु के विषय में आकार से रहित निर्विकल्प-भाव से जो प्रतीति होती है, उसे 'प्राथमिक आलोचन' या 'प्रथमाभास' कहते हैं। इसका अनुभव तो योगी-जन ही करते हैं।

*ऐन्द्रीमाशां पृथुकवपुषा पूरयित्वा क्रमेण
क्रान्ताः सप्त +प्रकटहरिणा येन पादेन लोकाः ।
कृत्वा ध्वान्तं विगलितबलिव्यक्ति पाताललीनं
विश्वालोकः स जयति रविः सत्त्वमेवोर्ध्वरश्मिः ॥९॥

सः विश्व-आलोकः सत्त्वम् एव ऊर्ध्व-रश्मिः रविः जयति, येन पृथुक-वपुषा प्रकट-हरिणा विगलित-बलि-व्यक्ति ध्वान्तं पाताल-लीनं कृत्वा, (तथा) ऐन्द्रीम् आशां क्रमेण पूरयित्वा सप्त लोकाः (एकेन) पादेन क्रान्ताः ॥९॥

उस प्रकाशमय और उज्ज्वल किरणों वाले (चित् रूपी) सूर्य की जय हो, जो जगत का प्रकाशक है, जिस ने बाल-नारायण के रूप में बलिदानव के व्यक्तित्व को नष्ट करते हुए तथा (उस के कुलाभिमानात्मक) अन्धकार को पाताल में लीन कर के इन्द्र-दिशा अर्थात् पूर्व दिशा को क्रम से व्याप्त किया और जिस ने (इस प्रकार) सातों लोकों को एक ही पग में घेर लिया ॥ ९॥

---

८ * यहां 'सोम' शब्द प्राण-अपान की ओर संकेत करता है। देवता, पितर और मनुष्य क्रम से सात्त्विक, राजस और तामसिक वृत्तियों को सूचित करते हैं। प्राण और अपान के अन्दर तथा बाहर आने जाने से ही वृत्तियों को पुष्टि प्राप्त होती है। अतः प्राण और अपान इन वृत्तियों के द्वारा ही समाप्त होते हैं। पर वास्तव में प्राणापान की समाप्ति नहीं होती है, क्योंकि प्राणापान की जो बाह्य तथा आन्तरिक संधि है, वही इन को बार बार जीवन प्रदान करती है। तभी तो ये प्राणापान समाप्त होने में नहीं आते। इस श्लोक में इसी संधि रूपी सूर्य की स्तुति की गई है।

९ * पुराणों के अनुसार बाह्य सूर्य भी आत्मिक सूर्य की भाँति सात घोड़ों से चलाये जाने वाले रथ पर चढ़ कर पूर्व दिशा में

ध्यात्वा ब्रह्म प्रथममतनु प्राणमूले नदन्तं
दृष्ट्वा चान्तः प्रणवमुखरं व्याहृतीः सम्यगुक्त्वा ।
यत्तद्वेदे तदिति सवितुर्ब्रह्मणोक्तं वरेण्यं
तद्भर्गाख्यं किमपि परमं *धामगर्भं प्रपद्ये ॥१०॥

(अहं) प्रथमं प्रणव-मुखरं तत्-इति व्याहृतीः सम्यक् उक्त्वा, प्राण-मूले नदन्तम् अतनु ब्रह्म अन्तर् ध्यात्वा दृष्ट्वा च, तत् किम्-अपि परमं धाम-गर्भं भर्ग-आख्यं (तेजः) प्रपद्ये, यत् तत् सवितुः वरेण्यं (तेजः) ब्रह्मणा वेदे उक्तम् ॥१०॥

मैं पहले 'ओम्' शब्द के उच्चारण के साथ साथ 'तत्'—इत्यादि (गायत्री-मन्त्र-संबन्धिनी) व्याहृतियां भली भान्ति बोलता हूँ। (फिर) मूलाधार में स्थित, अनाहत शब्द करते हुए और देह (के संबन्ध) से रहित ब्रह्म का हृदय में ध्यान करता हूँ और (भीतर से उस का साक्षात्) दर्शन करता हूँ। (तत्पश्चात्) मैं उस अलौकिक, उत्कृष्ट और (सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि के) प्रकाश से गर्भित भर्ग नामक (सूर्य के तेज) को प्रणाम करता हूँ, जिस के वरणीय रूप का वर्णन हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ने वेद में किया है ॥१०॥

उदय करता है और उस की सारी किरणें क्षण भर में जहाँ संसार में व्याप्त होती हैं वहाँ इस के अन्धकार को भी नष्ट करती हैं।

९ † वास्तव में नारायण भी सूर्य का एक नाम है। गीता में भी कहा गया है—'आदित्यानामहं विष्णुः'।

१० * स्तोत्रकार ने चित्सूर्य को 'धाम-गर्भ' इस कारण से कहा है कि सूर्य, सोम और अग्नि का प्रकाश अथवा जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति का प्रकाश इसी तुरीयरूप चित्सूर्य के प्रकाश में गर्भित है।

त्वां स्तोष्यामि स्तुतिभिरिति मे यस्तु भेदग्रहोऽयं
सैवाविद्या; तदपि सुतरां तद्विनाशाय युक्तः।
स्तौम्येवाहं त्रिविधमुदितं *स्थूलसूक्ष्मं परं वा
विद्योपायः पर इति बुधैर्गीयते †खल्वविद्या ॥११॥

(अहं) त्वां स्तुतिभिः स्तोष्यामि इति तु यः अयं भेद-ग्रहः मे (अस्ति), सा एव अविद्या (भवति, तथापि) तत् अपि तत्-विनाशाय सुतरां युक्तः। (तस्मात्) अहं त्रि-विधम् उदितं स्थूल-सूक्ष्मं परं वा (त्वां) स्तौमि एव, (यतः) खलु परः विद्या-उपायः बुधैः अविद्या इति गीयते ॥११॥

मैं तुझे स्तुतियों के द्वारा प्रसन्न करूँगा, इस प्रकार का जो मुझे भेदावेश हुआ है, वही अविद्या है। पर यही (अविद्या) तो (भेद-आवेश-रूपिणी) उस (अविद्या) को नष्ट करने में सर्वथा युक्त है। (आप के) तीन प्रकार से उदित स्थूल, सूक्ष्म और पर रूपों की मैं तो अवश्य स्तुति करके ही रहूँगा, (क्योंकि) आत्म-विद्या की प्राप्ति का उपाय ज्ञानियों ने अविद्या ही को कहा है ॥११॥

११* चित्सूर्य के स्थूल, सूक्ष्म और पर—ये तीन रूप कहे जाते हैं। इसका स्थूल रूप वही है, जो बाह्य सूर्य का है। इस का सूक्ष्म रूप वही है, जो ब्रह्म-नाड़ी का है, जिस का योगी-जन ही अनुभव करते हैं। और इस का पर रूप वही है जो समाधि और व्युत्थान के भेद से परे है और जो बाह्य तथा आन्तरिक जगत में एक जैसा रहता है। इसका अनुभव भी योगी ही करते हैं।

११ † स्तोत्रकार ने यहां 'अविद्या से ही विद्या की प्राप्ति होती है', इस कथन की ओर संकेत किया है। वास्तव में अभिप्राय यह है कि होम, जप और हवन आदि जितने भी ईश्वर की प्राप्ति के साधन हैं, वे सभी अविद्या के अन्तर्गत ही हैं, क्योंकि ऐसे साधनों का प्रयोग करने से

*योऽनाद्यन्तोऽप्यतनुरगुणोऽणोरणीयान्महीया-
न्विश्वाकारः सगुण इति वा कल्पनाकल्पिताङ्गः।
नानाभूतं प्रकृतिविकृतीर्दर्शयन्भाति यो वा
तस्मै तस्मै भवतु परमादित्य! नित्यं नमस्ते ॥१२॥

हे परम-आदित्य ! यः (भवान्) अन्-आदि-अन्तः अपि अतनुः अगुणः अणोः अणीयान् महीयान् विश्व-आकारः सगुणः इति वा कल्पना-कल्पित-अङ्गः (अस्ति), यः वा नाना-भूत-प्रकृति-विकृतीः दर्शयन् भाति, तस्मै तस्मै (नाना-रूप-धारिणे) ते नित्यं नमः भवतु ॥१२॥

हे महान् सूर्य ! आप आदि और अन्त से रहित, शरीर के सम्पर्क से रहित, (सत्त्व आदि) गुणों से भिन्न, सूक्ष्म से सूक्ष्म, (महान् से) महान्, विश्वाकार और (सर्वज्ञता आदि) गुणों से युक्त हैं। इस प्रकार कल्पना के आधार पर आप का स्वरूप (भक्तों ने) निश्चित किया है। आप अनेक प्रकार के प्राणियों की प्रकृति तथा विकृति को दिखाते हुए (चारों ओर) दृष्टिगोचर होते हैं। (इस प्रकार से विद्यमान) आप के ही स्वरूप को नित्य नमस्कार हो ॥१२॥

ईश्वर तथा जीव में परस्पर भेद देखा जाता है। पर अन्त में इन्हीं साधनों के द्वारा तो ईश्वर-प्राप्ति होती है। अतः स्पष्ट ही है कि अविद्या से ही विद्या की प्राप्ति होती है।

१२ * इस श्लोक में दिनपति भगवान् की परिपूर्णता तथा अनवच्छिन्नता दिखाई गई है। 'परिपूर्णता' से युक्त उसे कह सकते हैं, जो परिपूर्ण तथा अपूर्ण दोनों ही हो। जो केवल परिपूर्ण हो और अपूर्ण न हो, उस को परिपूर्ण नहीं कह सकते हैं। परिपूर्णता तथा अनवच्छिन्नता परमात्मा की विश्वाकारता में ही लागू हो सकती हैं। इस लिए स्तोत्रकार

तत्त्वाख्याने त्वयि मुनिजनाः नेति नेति ब्रुवन्तः
श्रान्ताः सम्यक्त्वमिति न च तैरीदृशो वेति चोक्तः ।
तस्मात्तुभ्यं *नम इति वचोमात्रमेवास्मि वच्मि
प्रायो यस्मात्प्रसरति तरां भारती ज्ञानगर्भा ॥१३॥

मुनि-जनाः त्वयि तत्त्व-आख्याने 'नेति नेति' ब्रुवन्तः श्रान्ताः (भवन्ति) । ईदृशः वा त्वम् (असि) इति च तैः सम्यक् न उक्तः । तस्मात् 'तुभ्यं नमः' इति वचः-मात्रम् एव वच्मि अस्मि, यस्मात् प्रायः (त्वद्-विषया) भारती ज्ञान-गर्भा (सती) तरां प्रसरति ॥१३॥

मुनिजन तेरे स्वरूप के विषय में 'नेति नेति' शब्द कहते हुए (व्यर्थ ही) थकते हैं। 'आप का स्वरूप इस प्रकार का है,' ऐसा भी वे निश्चित रूप से नहीं कहते। अतः मैं 'तुझे नमस्कार हो' इस वाणी मात्र का ही अवलम्बन करता हूं, क्योंकि यह वाणी यदा तदा (आप के अनुग्रह से) ज्ञान-गर्भित होकर ही प्रसार करती है अर्थात् सफल होती है ॥१३॥

ने स्थूल, सूक्ष्म, निर्गुण और सगुण आदि जगद्रूपता से ही प्रभु परमादित्य की स्तुति की है।

१२ † ईश्वर के सर्वज्ञता आदि गुण ये हैं—सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि बोध, स्वतन्त्रता, अलुप्तशक्तिता और अनन्तशक्तिता।

१२ * यहां प्राणियों की प्रकृति से उन के कारणों का अभिप्राय है और उन की विकृति का अर्थ है, उन के कार्य।

१३ * परमात्मा के विषय में तर्कात्मिक बुद्धि अकिंचित्कर है। इसी लिए कवि ने पूर्व ऋषियों के वैज्ञानिक विचारों को एकदम ही तिलाञ्जलि दी है और केवल 'नमस्कार' अर्थात् आत्म-समर्पण

सर्वाङ्गीणः सकलवपुषामन्तरे योऽन्तरात्मा
तिष्ठन्काष्ठे दहन इव नो *दृश्यसे युक्तिशून्यैः ।
यश्च प्राणारणिषु नियतैर्मथ्यमानासु सद्भि-
र्दृश्यं ज्योतिर्भवसि परमादित्य ! तस्मै नमस्ते ॥१४॥

हे परम-आदित्य ! सकल-वपुषाम् अन्तरे यः अन्तर्-आत्मा सर्वाङ्गीणः तिष्ठन् (अस्ति), (सः त्वं) युक्ति-शून्यैः (जनैः) काष्ठे दहनः इव नो दृश्यसे । मथ्यमानासु प्राण-अरणिषु नियतैः (अभ्यास-रतैः) सद्भिः यः च ज्योतिः दृश्यं भवसि तस्मै ते नमः ॥१४॥

हे (चित् रूपी) सूर्य ! सारे प्राणियों के हृदय में जो अन्तरात्मा सर्वाङ्गीण बन कर ठहरी हुई है, वही तुम युक्तिशून्य (मूर्ख जनों) को अरणि काष्ठ में (छिपी हुई) अग्नि की भाँति दिखाई नहीं देते । सज्जनों को जा तुम्हारा अलौकिक प्रकाश प्राण रूपी अरणि-काष्ठ को मथते (और सुलगाते) समय दिखाई देता है, उसी प्रकाश-स्वरूप तुम को नमस्कार हो ॥१४॥

के द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति सुलभ मानी है । वैज्ञानिक विचारों से तो आत्म-प्राप्ति के स्थान पर आत्माभिमान की ही वृद्धि होती है, पर आत्म-समर्पण करने से तो प्राणी शीघ्र ही ईश्वर के अन्तस्तल में सदा के लिए स्थान बना लेता है ।

१४ * क्या कारण है कि परमात्मा सभी प्राणियों के हृदय में ठहरा हुआ भी दृष्टिगोचर नहीं होता ? इस प्रश्न का समाधान यों हो सकता है कि ईश्वर का स्वरूप अत्यन्त निर्मल होने के कारण ही दिखाई नहीं देता । एक शैव आचार्य ने कहा है—

'माणिक्यप्रवेक इव निचोलितो निजमयूखलेखया ।
प्रतिभाति लौकिकानामत्यन्तस्फुटोऽप्यस्फुट आत्मा ॥' (म० मं०)

* स्तोता स्तुत्यः स्तुतिरिति भवान्कर्तृकर्मक्रियात्मा
क्रीडत्येकस्तत्र नुतिविधावस्वतन्त्रस्ततोऽहम् ।
यद्वा वच्मि प्रणयसुभगं गोपते तच्च तथ्यं
त्वत्तो ह्यन्यत्किमिव जगतां विद्यते तन्मृषा स्यात् ॥१५॥

हे गोपते ! भवान् कर्त्त-कर्म-क्रिया-आत्मा (एवं) स्तोता स्तुत्यः स्तुतिः इति एकः क्रीडति । ततः अहं तव नुति-विधौ अस्वतन्त्रः (अस्मि) । यद्वा (अहं) प्रणय-सुभगं (किञ्चित्) वच्मि, तत् च (अपि) तथ्यम् । हि जगतां (मध्ये) त्वत्तः अन्यत् इव किं विद्यते । (यदि किञ्चित् अस्ति) तत् मृषा स्यात् ॥१५॥

हे चित् रूपी आदित्य ! आप एक ही कर्ता, कर्म और क्रिया का रूप बन कर स्तुति करने वाले, स्तुति-देवता और स्तुति के रूप में क्रीड़ा करते हैं । इस कारण से मैं आप की स्तुति करने में असमर्थ हूँ । मैं अब प्रेम-भाव से जो कुछ भी विनती करूं, उसे (आप) ठीक ही (समझें) । क्या तीनों लोकों में आप से भिन्न कोई वस्तु हो सकती है ? (कदापि नहीं) । ऐसा (कहना) तो (आकाश में फूल के होने के समान) असत्य है ॥१५॥

अर्थात् माणिक्य आदि रत्न अपनी अति निर्मल किरणों की छटा से आच्छादित होने के कारण दिखाई नहीं देते । इसी प्रकार आत्मा समस्त संसार को अपने उद्दीप्त तथा प्रज्वलित प्रकाश की झलक से प्रकाशित करके भी और अति स्वच्छ होने के कारण स्फुट होने पर भी अस्फुट ही है ।

इस के प्रत्युत योगी-जन इस कारण से ईश्वर का अनुभव करते

ज्ञानं नान्तःकरणरहितं विद्यतेऽस्मद्विधानां
त्वं चात्यन्तं सकलकरणागोचरत्वादचिन्त्यः ।
ध्यानातीतस्त्वमिति न विना *भक्तियोगेन लभ्य-
स्तस्माद्भक्तिं शरणममृतप्राप्तयेऽहं प्रपन्नः ॥१६॥

अस्मद्-विधानां ज्ञानम् अन्तःकरण-रहितं न विद्यते । त्वं च सकल-करण-अगोचरत्वात् अत्यन्तम् अचिन्त्यः (असि) । त्वं ध्यान-अतीतः इति भक्ति-योगेन विना न लभ्यः (असि) । तस्मात् अहम् अमृत-प्राप्तये भक्तिम् (एव) शरणं प्रपन्नः (अस्मि) ॥१६॥

हम जैसे (अल्पज्ञ) लोगों का ज्ञान अन्तःकरण से रहित होकर ठहर ही नहीं सकता, (अर्थात् मनुष्य का ज्ञान इन्द्रियों पर ही अवलम्बित है) । और आप सभी इन्द्रियों से अगोचर होने के कारण अत्यन्त अचिन्त्य हैं, (अर्थात् आप अन्तःकरण के द्वारा जाने ही नहीं जा सकते) । आप ध्यान से परे हैं, (अर्थात् आप का ध्यान भी नहीं किया जा सकता) । इस लिए भक्ति-योग के बिना आप प्राप्त नहीं हो सकते । अतः मैं (मोक्ष रूपी) अमृत की प्राप्ति के लिए (आप की) भक्ति की ही शरण में जाता हूँ, (अर्थात् आप को भक्ति के द्वारा ही रिझाता हूँ) ॥१६॥

हैं कि वे अपने अन्तःकरणों को प्राणायाम आदि साधनों से ईश्वर की भान्ति निर्मल बना कर अन्त में उसी में लय हो जाते हैं ।

१५ * ईश्वर वस्तुतः स्तुति-कर्ता, स्तुति-देवता और स्तुति के रूप में ठहरा हुआ है । इसी लिए कवि उस की स्तुति करने में अपने आप को असमर्थ समझता है, पर तो भी वह उस की स्तुति कर रहा है । इस का भी यही कारण है कि ईश्वर स्वयं स्तुति-कर्ता आदि के रूप में ठहरा हुआ है और यह अपने आप को उस से

* हार्दं हन्ति प्रथममुदिता या तमः संश्रितानां
सत्त्वोद्रेकात्तदनु च रजः कर्मयोगक्रमेण ।
स्वभ्यस्ता च प्रथयतितरां सत्त्वमेव, प्रपन्ना
निर्वाणाय व्रजति शमिनां तेऽर्क! भक्तिस्त्रयीव ॥१७॥

हे अर्क ! या ते भक्तिः उदिता (सती) प्रथमं संश्रितानां हार्दं तमः हन्ति, तदनु च सत्त्व-उद्रेकात् कर्म-योग-क्रमेण रजः (हन्ति), स्वभ्यस्ता च (सती) सत्त्वम् एव तरां प्रथयति, (एवं सा ते भक्तिः) प्रपन्ना (सती) शमिनां त्रयी इव निर्वाणाय व्रजति ॥१७॥

हे सूर्य ! आप की उदित हुई भक्ति पहले भक्तों के तमोगुण रूपी हार्दिक अन्धकार को नष्ट करती है । फिर (वह) सत्त्वगुण की अधिकता के कारण कर्मयोग द्वारा (उनके) रजोगुण को नष्ट-भ्रष्ट करती है । (तत्पश्चात्) भली भान्ति अभ्यस्त की गई (वह भक्ति) सत्त्व-गुण को ही बढ़ाती है । वही अवलम्बित की गई आप की भक्ति शान्तात्मा जनों को, तीन वेदों की भान्ति, मोक्ष दिलाती है ॥१७॥

अभिन्न ही मानता है । फिर भला उसकी स्तुति क्यों न करे ।

१६ * इस श्लोक में भक्ति-योग का वास्तविक संकेत आत्म-समर्पण की ओर है, क्योंकि आत्म-समर्पण करने से ही परमात्मा की प्राप्ति होती है । इस बात को न जान कर कई योगी-जन ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिये व्यर्थ ही अपने पुरुषार्थ का अभिमान करते हैं ।

१७ * इस श्लोक में तमोगुण और रजोगुण आन्तरिक अपवित्रता और बाहरी अपवित्रता की ओर संकेत करते हैं ।

*तामासाद्य श्रियमिव गृहे, कामधेनुं प्रवासे
ध्वान्ते भाति, धृतिमिव वने, योजने ब्रह्मनाडिम् ।
नावं चास्मिन्विषमविषयग्राहसंसारसिन्धौ
गच्छेयं ते परमममृतं यत्र शीतं न चोष्णम् ॥१८॥

(अहं) तां (भक्तिं), गृहे श्रियम् इव, प्रवासे कामधेनुम् इव, ध्वान्ते भातिम् इव, वने धृतिम् इव, योजने ब्रह्मनाडिम् इव, अस्मिन् विषम-विषय-ग्राह-संसार-सिन्धौ च नावम् इव, आसाद्य ते परमम् अमृतं गच्छेयं यत् न शीतं न च उष्णं (भवति) ॥१८॥

(आप की भक्ति) घर में लक्ष्मी की भान्ति, विदेश में कामधेनु की नाईं, (घने) अन्धकार में प्रकाश की झलक जैसी, जंगल में धैर्य के समान, परमात्मा से मिलाने में सुषुम्णा नाड़ी के तुल्य और भयंकर विषय रूपी ग्राहों से युक्त इस संसार-सागर में नौका के समान है। उसी (भक्ति) का आश्रय लेकर मैं आप के (उस) परम अमृत को प्राप्त हो जाऊँ, जो शीतोष्ण-भाव से रहित है ॥१८॥

---

१८ * इस श्लोक में कवि ने भक्ति का सर्वतोमुखी महत्व दिखलाने के लिए इस की कई सुन्दर उपमायें दी हैं। इसे (अर्थात् भक्ति को) शून्य गृह में लक्ष्मी के समान कहा गया है, क्योंकि यह प्रत्येक प्रकार का ऐश्वर्य प्रदान करती है। यह विचार-मात्र से ही शीघ्र फल देती है, इसलिए यह विदेश में कामधेनु के समान है। यह सूर्य आदि तेजधारियों के प्रकाश की भी प्रकाशिका होने के कारण प्रभा के समान है। यह वन में धैर्य के तुल्य है; क्योंकि इस से विश्रान्ति मिलती है। यह भक्त को परम-शिव से मिलाती है, इस लिए सुषुम्णा नाड़ी जैसी है। यह इस असार संसार-सागर के पार जाने में सहायता देती है अतः इसे नौका के समान कहा गया है।

अग्निषोमावखिलजगतः कारणं तौ मयूखैः
सर्गादाने सृजसि भगवन्ह्रासवृद्धिक्रमेण ।
तावेवान्तर्विषुवति* समौ जुह्वतामात्मवह्नौ
द्वावप्यस्तं नयसि युगपन्मुक्तये भक्तिभाजाम् ॥१६॥

हे भगवन् ! (त्वम्) अखिल-जगतः कारणं तौ अग्नि-सोमौ मयूखैः ह्रास-वृद्धि-क्रमेण सर्गादाने (सर्ग-आदान-निमित्तं) सृजसि । (तथा) अन्तर् विषुवति आत्म-वह्नौ समौ जुह्वतां भक्ति-भाजां मुक्तये तौ द्वौ अपि एव युगपत् अस्तं नयसि ॥१६॥

हे भगवन् ! प्राण और अपान सारे जगत के कारण हैं । आप इन को (अपनी चिद्रूप) किरणों के द्वारा घटाने और बढ़ाने के क्रम से बाहर निकालने और भीतर ले जाने के निमित्त उत्पन्न करते हैं । भक्त-जन इन को हृदयाकाश में प्रवर्तित विषुवत्कालात्मक' आत्माग्नि में साम्य-भाव से समर्पित करते हैं । फिर उन भक्तों को मुक्ति दिलाने के लिए आप इन दोनों (अर्थात् प्राण और अपान) को एक ही समय में लय करते हैं, (जिस के फल-स्वरूप वे भक्त आवागमन के चक्कर से छूट जाते हैं) ॥१६॥

१६* जिस हृदयाकाश से प्राणों की वृत्ति बाहर निकलती है, अर्थात् जहां से श्वास बाहर आना प्रारम्भ करता है, उसे अन्तःतुटि कहते हैं । जिस बाहिरी आकाश से अपान-वृत्ति भीतर जाने का प्रयत्न करती है, उसे बाह्य-तुटि कहते हैं । अन्तःतुटि और बाह्य-तुटि का जो समय-विशेष है, उसे 'विषुवत् कालांश' कहते हैं । योगी-जन इस का अवलम्बन करने पर समस्त संसार की वृत्तियों को लय करते हैं ।

स्थूलत्वं ते प्रकृतिगहनं नैव लक्ष्यं ह्यनन्तं
सूक्ष्मत्वं वा तदपि सदसद्व्यक्त्यभावादचिन्त्यम् ।
ध्यायामीत्थं कथमविदितं त्वामनाद्यन्तमन्त-
स्तस्मादर्क! प्रणयिनि मयि स्वात्मनैव* प्रसीद ॥२०॥

हे अर्क ! ते स्थूलत्वं प्रकृति-गहनम्, हि अनन्तं नैव लक्ष्यम् । (यत्) वा (ते) सूक्ष्मत्वं, तत् अपि सत्-असत्-व्यक्ति-अभावात् अचिन्त्यम् (अस्ति) । इत्थम् अन्-आदि-अन्तम् अविदितं त्वां कथम् अन्तर् ध्यायामि । तस्मात् प्रणयिनि मयि स्वात्मना एव प्रसीद ॥२०॥

हे सूर्य भगवान् ! आपकी स्थूलता स्वाभाविक रूप से ही गूढ़ अर्थात् अगम्य है, क्योंकि (यह) अनन्त होने के कारण अदृश्य है। (आप के स्वरूप की) जो सूक्ष्मता है, वह भी सद्व्यक्ति और असद्व्यक्ति (अर्थात् साकार और निराकार रूप) से परे होने के कारण अचिन्त्य है। इस प्रकार मैं आप के आदि और अन्त से रहित तथा (सर्वथा) अज्ञात स्वरूप का ध्यान हृदय में कैसे कर सकूँ ? इस लिए प्रार्थना करने वाले मुझ पर आप स्वयं प्रसन्न हो जायें ॥२०॥

यत्तद्व्यं किमपि परमं शब्दतत्त्वं त्वमन्त-
स्तत्सद्व्यक्तिं जिगमिषु शनैर्लाति *मात्रा कलाः खे ।
अव्यक्तेन प्रणववपुषा बिन्दुनादोदितं स-
च्छन्दब्रह्मोच्चरति करणाव्यञ्जितं वाचकं ते ॥२१॥

२० * वास्तव में यह कथन अक्षरशः सत्य है कि ईश्वर ही यदि किसी पर स्वयं प्रसन्न हों, तभी उस को प्राप्ति सुलभ हो सकती है। उस के अनुग्रह के बिना मानवीय पुरुषकार सीमित होने के कारण सर्वथा व्यर्थ तथा अकिञ्चित्कर है।

यत् किमपि स्वम्, तत्-अन्तर परमं शब्द-तत्त्वं वेद्यम् । तत् सत्-व्यक्ति जिगमिषु मात्रा-कलाः अव्यक्तेन प्रणव-वपुषा खे शनैः लाति । (ततोऽपि) बिन्दु-नाद-उदितं करण-व्यञ्जितं ते वाचकं सत्-शब्द- ब्रह्म (स्वयम्) उच्चरति ॥२१॥

(परा वाणी के रूप में, वर्णों आदि के वभाग से रहित) जो आप का असामान्य और उत्कृष्ट स्वरूप है, उस के अन्तर्गत शब्द-तत्त्व (अर्थात् समस्त शब्दों का उदय-स्थान) जानने योग्य है । वह (शब्द-तत्त्व) सद्व्यक्ति (अर्थात् साकारता) को ग्रहण करने की इच्छा करता है । (फिर वह) चिदाकाश में ही (अकार आदि) मात्रा रूपिणी कलाओं अर्थात् शक्तियों को अव्यक्त ओंकार (अर्थात् पश्यन्ती वाणी) के रूप में धीरे धीरे ग्रहण करता है । (और) बिन्दु-नाद (अर्थात् प्रकाश और विमर्श) से निकला हुआ, दिव्य-करण-बन्ध से प्रकट बना हुआ और आप के स्वरूप का बोधक सत्-शब्द-ब्रह्म स्वयं उच्चरित होता है ॥२१॥

---

२१ * अकारश्च उकारश्च मकारो बिन्दुरेव च ।
अर्धचन्द्रो निरोधी च नादो नादान्त एव च ॥
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनैकादशी स्मृता ।
उन्मना तु ततोऽतीता तदतीतं निरामयम् ॥

अकार, उकार, मकार, बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना—प्रणव की इन ग्यारह मात्राओं को जब योगी चिदाकाश में लय करता है, तब उस की 'उन्मना' नामक बारहवीं मात्रा अव्यक्त ओंकार के रूप में प्रकट होती है । इस अवस्था का अनुभव योगी-जन 'दिव्य-करण-बन्ध' से भली भांति कर सकते हैं । 'दिव्य-करण-बन्ध' किसे कहते हैं, इस का निर्णय पचासवें श्लोक की टीका में किया जाएगा । इन ग्यारह मात्राओं का अर्थ विस्तार-भय से नहीं लिखा जाता है ।

प्रातःसंध्यारुणकिरणभागृङ्मयं राजसं य-
न्मध्ये चापि ज्वलदिव यजुः शुक्लभाः सात्त्विकं वा।
सायं साम्नास्तमितकिरणं यत्तमोल्लासि रूपं
साह्नः सर्गस्थितिलयविधावाकृतिस्ते त्रयीव ॥२२॥

प्रातः-संध्या-अरुण-किरण-भाक् ऋङ्मयं यत् ते राजसं रूपम्, मध्ये च अपि ज्वलत् इव शुक्ल-भाः यजुः (यत् ते) सात्त्विकं (रूपम्), सायम् अस्तमित-किरणं साम यत् वा ते तम-उल्लासि-रूपम् (अस्ति), सा ते अह्नः आकृतिः (जगतः) सर्ग-स्थिति-लय-विधौ त्रयी इव (अस्ति) ॥२२॥

प्रातःकालिक संध्या की लालिमा से युक्त किरणों को धारण करने वाला जो आप का ऋग्वेद-मय राजस रूप है, मध्याह्न-काल की प्रज्वलित और श्वेत किरणों से युक्त जो आप का यजुर्वेद-मय सात्त्विक (रूप) है और अस्ताचल की ओर प्रयाण करती हुई सायं-कालीन किरणों से युक्त जो आप का साम-वेद-मय तामस (रूप) है, वही (अर्थात् इन तीनों रूपों को धारण करने वाली) आप की दिन रूपिणी मूर्ति सारे संसार की सृष्टि, स्थिति और संहार करने में वेद-त्रयी के समान है ॥२२॥

---

२२ *वास्तव में जिन तीन संध्याओं का यहां उल्लेख हुआ है, वे आन्तरिक संध्यायें ही हैं। इन का बोध गुरु-मुख से ही भली भान्ति हो सकता है। तथापि इन के विषय में केवल सांकेतिक रूप में कुछ बातें नीचे लिखी जाती हैं :—

प्राण रूपी दिन में तुरीय-रूप आकृति के तीन निर्विकल्प-स्थान लक्ष्य करने योग्य हैं। वे हृदय, तालु और बाह्य-द्वादशान्त में स्थित होते हैं। जब यह (अर्थात् प्राण रूपी दिन में तुरीय-रूप आकृति) हृदय के स्थान-विशेष से प्रस्थान करती है, तो उस समय-विशेष को 'प्राभातिक संध्या' कहते हैं। जब यह तालु के स्थान में से निकलती है,

ये * पातालोदधिमुनिनगद्वीपलोकाधिबीज-
च्छन्दोभूतस्वरमुखनदत्सप्तसप्तिं प्रपन्नाः ।
ये चैकाश्वं निरवयववाग्भावमात्राधिरूढं
ते त्वामेव स्वरगुणकलावर्जितं यान्त्यनश्वम् † ॥२३॥

ये पाताल-उदधि-मुनि-नग-द्वीप-लोक-आधि-बीज-छन्दस्-भूत-स्वर-मुख-नदत् सप्त-सप्तिं प्रपन्नाः, ये च निर्-अवयव-वाग्-भाव-मात्र-अधिरूढम् एक-अश्वं (त्वां प्रपन्नाः), ते स्वर-गुण-कला-वर्जितम् अन्-अश्वं त्वाम् एव यान्ति ॥२३॥

जो लोग (अतल आदि सात) पातालों, (क्षीर आदि सात) समुद्रों, (अत्रि आदि सात) ऋषियों, (महेन्द्र आदि सात) पर्वतों, (जम्बु आदि सात) द्वीपों, (भूः आदि सात) लोकों, (मोह आदि सात) आधियों, (जौ आदि सात) बीजों, (गायत्री आदि सात) छन्दों और (षड्ज आदि सात) स्वरों से शब्दायमान बने हुए आप के (पाञ्च ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि रूपी) सात घोड़ों वाले स्वरूप (अर्थात् चित्सूर्य के साकार रूप) की शरण में जाते हैं और जो अवयवों से रहित 'पश्यन्ती' वाणी में स्थित और एक ही घोड़े से युक्त

तो उस समय-विशेष को 'माध्याह्निक संध्या' कहते हैं । और जब यह बाह्य-द्वादशान्त के स्थान को पहुंचती है, तो उस समय-विशेष को 'सायंकालीन संध्या' कहते हैं ।

२३ * सात पातालों, समुद्रों आदि के नाम नीचे दिये जाते हैं:—

१. पद्मपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये हैं :—

अतल, वितल, सुतल, तलातल, महातल, रसातल और पाताल ।

विष्णुपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये हैं :—

अतल, वितल, नितल, गभस्तिमान् , महातल, सुतल और पाताल ।

आप के स्वरूप (अर्थात् निराकार रूप) का आश्रय लेते हैं, वे दोनों (प्रकार के लोग) घोड़ों की उपाधि से रहित तथा स्वरों, गुणों और कलाओं से मुक्त आप के स्वरूप को ही प्राप्त होते हैं ॥२३॥

अग्निपुराण के अनुसार सात पातालों के नाम ये हैं :—
अतल, सुतल, वितल, गभस्तिमान्, महातल, रसातल और पाताल ।

२. सात समुद्रों के नाम ये हैं :—
क्षीर, दधि, सर्पि, इक्षुरस, मदिरा, स्वादधू और क्षार ।

३. शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार सात ऋषियों के नाम ये हैं :—
गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, यमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि ।
महाभारत के अनुसार सात ऋषियों के नाम ये हैं :—
अत्रि, मरीचि, अंगिरा, पुलह, क्रतु, पुलस्त्य और वसिष्ठ ।

४. सात पर्वतों के नाम ये हैं :—
महेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्ति, ऋक्ष, विन्ध्य और पारियात्र ।

५. सात द्वीपों के नाम ये हैं :—
जम्बु, कुश, शाक, क्रौंच, शाल्मलि, गोमेध और पुष्कर ।

६. सात लोकों के नाम ये हैं :—
भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक ।

७. सात आधियों के नाम ये हैं :—
मोह, मद, गर्व, विषाद, क्रोध, भय और हर्ष ।

८. सात बीजों के नाम ये हैं :—
जौ, शाली, माष, तिल, मूँग, कनक और मसूर ।

९. सात छन्दों के नाम ये हैं :—
गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती ।

१०. सात स्वरों के नाम ये हैं :—
षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ।

२३ † यहां यह विरोधाभास दिखाया गया है कि चित्सूर्य का भक्त उस के घोड़ों से युक्त रूप की शरण में जाने से उस के अश्व-रहित रूप को प्राप्त होता है, अर्थात् अश्वता का भजन करने से अनश्वता को प्राप्त होता है । उस की भक्ति के फल की इसी अलौकिकता की ओर यहां संकेत है ।

दिव्यं ज्योतिःसलिलपवनैः पूरयित्वा त्रिलोकी-
मेकीभूतं पुनरपि च तत्सारमादाय गोभिः ।
अन्तर्लीनो विशसि वसुधां तद्गतः सूयसेऽन्नं
तच्च प्राणांस्त्वमिति जगतां*प्राणभृत्सूर्य आत्मा ॥२४॥

(हे भानो ! त्वं) त्रिलोकीं ज्योतिः-सलिल-पवनैः पूरयित्वा, एकी-भूतं तत् दिव्यं सारं गोभिः आदाय, पुनर् अपि अन्तर्-लीनः (भूत्वा), वसुधां विशसि । (ततः) तत्-गतः (सन्) अन्नं सूयसे, तत् च (अन्नं) प्राणान् (सूयते), इति त्वं जगतां प्राण-भृत् सूर्यः आत्मा (असि) ॥२४॥

(हे चित्-सूर्य !) आप तीनों लोकों को अग्नि, जल और वायु से तृप्त करते हैं । (फिर उन के) एकत्र हुए अलौकिक सार को चिद्रश्मियों के द्वारा ग्रहण करके तथा अन्तर्मुख होकर (परा भूमि रूपिणी) पृथ्वी में प्रवेश करते हैं । उस में प्रविष्ट होकर आप (आनन्द रूपी) अन्न को उत्पन्न करते हैं । वह अन्न प्राणों को उत्पन्न करता है । इस प्रकार आप सारे जगत के प्राण-पोषक, सूर्य और परमात्मा (कहलाये जाने योग्य हैं) ॥२४॥

---

२४ * बाह्य सूर्य भी आत्मिक सूर्य की भान्ति 'भूर्भुवः स्वः' नामक तीनों लोकों को समय समय पर प्रकाश (अर्थात् अग्नि), जल तथा वायु के द्वारा तृप्त करता है । तदनन्तर इन से एकत्र हुए रसरूप सार को ग्रीष्म-आदि ऋतुओं में अपनी किरणों के द्वारा पृथ्वी से आकर्षित करता है और वर्षा के रूप में उस रस को भूमि पर बहा कर अन्न आदि खाद्य पदार्थों से प्राणि-मात्र की रक्षा करता है । अतः बाह्य सूर्य को भी 'प्राण-पोषक' की उपाधि से विभूषित किया जाता है ।

*अग्नीषोमौ प्रकृतिपुरुषौ बिन्दुनादौ च नित्यौ
प्राणापानावपि दिननिशे ये च सत्यानृते द्वे ।
धर्माधर्मौ सदसदुभयं योऽन्तरावेश्य योगी
वर्तेतात्मन्युपरतमतिर्निर्गुणं त्वां विशेत्सः ॥२५॥

(हे अर्क ! यौ) नित्यौ अग्नि-सोमौ, प्रकृति-पुरुषौ, बिन्दु-नादौ, प्राण-अपानौ, धर्म-अधर्मौ च, (तथा) ये द्वे सत्य-अनृते, दिन-निशे च (भवतः, तौ एवं) सत्-असत् उभयं च अन्तर् आवेश्य, यः योगी उपरत-मतिः (सन्) आत्मनि वर्तेत, सः त्वां निर्गुणं विशेत् (एव) ॥२५॥

(हे चित्-सूर्य ! समस्त संसार में) सदा व्याप्त होने वाले अग्नि-चन्द्रमा, प्रकृति-पुरुष, बिन्दु-नाद, प्राण-अपान, दिन-रात, सत्य-असत्य, धर्म-अधर्म और सत्-असत् आदि जितने भी द्वन्द्व हैं, उन्हें जो योगी अपने हृदय में प्रविष्ट अर्थात् लय करके तथा (उन द्वन्द्वों से) निवृत्त होकर आत्मानन्द में ठहरता है, वही आप के निर्गुण (अर्थात गुणातीत) स्वरूप में (भली-भान्ति) प्रवेश करता है ॥२५॥

गर्भाधानप्रसवविधये सुप्तयोरिन्दुभासा
सापत्न्येनाभिमुखमिव खे कान्तयोर्मध्यसंस्थः ।
*द्यावापृथ्व्योर्वदनकमले †गोमुखैर्बोधयित्वा
पर्यायेणापिबसि ‡भगवन्षड्रसास्वादलोलः ॥२६॥

२५. * 'अग्नीषोम' से लेकर 'सदसत्' तक जितने भी द्वन्द्व इस श्लोक में कहे गये हैं, उन से समस्त संसार में विद्यमान द्वन्द्वों का उपलक्षण किया जाता है । अभिप्राय यह है कि सभी सांसारिक द्वन्द्वों के मध्य में ठहरा हुआ ईश्वर सारे संसार का आधार बना हुआ है ।

हे भगवन् ! (त्वं) षट्-रस-आस्वाद-लोलः मध्य-संस्थः सापत्न्येन अभिमुखम् इव (कृत्वा) इन्दु-भासा खे सुप्तयोः कान्तयोः द्यावापृथ्व्योः वदन-कमले गो-मुखैः बोधयित्वा गर्भ-आधान-प्रसव-विधये पर्यायेण आ पिबसि ॥२६॥

हे भगवन् ! आप 'षडानन्द' भूमियों का आस्वाद लेने के इच्छुक तथा (सारे संसार के) मध्य में ठहरे हुए हैं। आप परस्पर प्रतियोगी-भाव से प्रकट बने हुए, आकाश (अर्थात् शून्यावस्था) में सोये हुए और सुन्दर (प्राण-अपान-रूपी) आकाश और पृथ्वी के ('अन्तर्द्वादशान्त' और 'वाह्य-द्वादशान्त' में स्थित संधि-द्वयात्मक) मुख-कमलों को चिद्रश्मियों से विकसित करते हैं। (फिर आप उन्हें अपनी ही किरणों के द्वारा सारे संसार के) प्रवेश और प्रसर के निमित्त क्रम से पीते हैं (अर्थात् विमर्श करते हैं) ॥२६॥

*सोमं पूर्णामृतमिव चरुं तेजसा साधयित्वा
कृत्वा तेनानलमुखजगत्तर्पणं वैश्वदेवम् ।
आमाघस्यं विघसमिव खे †तत्कलाशेषमश्नन्
ब्रह्माण्डान्तर्गृहपतिरिव स्वात्मयागं करोषि ॥२७॥

---

२६ * इस श्लोक में आकाश और पृथ्वी शब्दों में 'अन्तर्द्वादशान्त' और 'वाह्य-द्वादशान्त' की ओर संकेत है। इन दोनों द्वादशान्तों का निर्णय अगले श्लोक में किया जायेगा।

२६ † 'गोमुख' शब्द से चिद्रश्मियों की सूचना मिलती है।

२६ ‡ षड्रसों में 'षडानन्द' भूमियों की ओर संकेत किया गया है। यथा—निजानन्द, निरानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द, चिदानन्द और जगदानन्द। ये आनन्द की भूमियां अत्यन्त रहस्य-पूर्ण होने के कारण अवर्णनीय हैं। योगी-जन ही इन का आस्वाद लेने के लिए लालायित तथा रसिक होते हैं।

(हे भगवन् ! त्वं) तेजसा सोमं पूर्ण-अमृतं चरुम् इव साधयित्वा, तेन अनल-मुख-जगत्-तर्पणं वैश्वदेवं कृत्वा (एवम्) आमावस्यं विघसम् इव तत्-कला-शेषं खे अश्नन्, ब्रह्माण्ड-अन्तर् गृहपतिः इव स्वात्म-यागं करोषि ॥२७॥

(हे भगवान् ! आप अपने) चित्-प्रकाश से (प्राण-अपान रूपी) चन्द्रमा को पूर्णामृत से भरे हुए हव्यान्न के समान बनाते हैं। (फिर) उसी (हव्यान्न) से (उदान रूपी) अग्नि के द्वारा सारे जगत का तर्पणात्मक वैश्वदेव यज्ञ करते हैं। (इस के बाद आप प्राण और अपान की पारस्परिक संधि रूपिणी) अमावस्या की उस (द्वादशान्तात्मक) अवशिष्ट अमा-कला का, हुत-शेष की नाईं, स्वयं चिदाकाश में आस्वाद लेते हैं। (इस प्रकार) आप ब्रह्माण्ड (रूपी अपने घर) में गृहपति की भान्ति (सदा) आत्म-यज्ञ करते रहते हैं ॥२७॥

---

२७ * आन्तरिक चन्द्रमा अपान-वायु बन कर 'बाह्य-द्वादशान्त' से भीतर की ओर सञ्चार करते करते पंद्रह तुटि रूपी शुक्लपक्ष के पंद्रह दिनों का उल्लङ्घन करता है। फिर हृदयाकाश में स्थित और तुर्यार्धांश से सीमित 'अन्तर्द्वादशान्त' पर बाह्य-चन्द्रमा की नाईं परिपूर्ण-कला से संयुक्त हो कर आन्तरिक पूर्णिमा के अमृत का आस्वाद लेता है। इसी तरह परिपूर्णता को प्राप्त हुआ भी चन्द्रमा प्राण-रूप बन कर 'अन्तर्द्वादशान्त' से प्रसारित होते हुए पंद्रह तुटि-रूपी कृष्णपक्ष में क्रम से क्षीण होता है और क्षीण होकर 'बाह्यद्वादशान्त' में स्थित तुर्यार्धांश रूपी आन्तरिक अमावस्या पर अमाकला का आस्वाद लेता है। इसी प्रकार आन्तरिक पूर्णिमा तथा आन्तरिक अमावस्या का आस्वाद लेते हुए योगी-जन वास्तविक गृहपति बन कर सदा 'आत्मयाग' का अनुभव किया करते हैं।

२७ † प्राण और अपान के, हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक, चलने में ३६ अंगुलों के समान समय लगता है। सवा दो अंगुलों के समान समय को तुटि कहते हैं। हृदयाकाश और बाह्य-द्वादशान्त पर

कृत्वा *नक्तंदिनमिव जगद्बीजमाव्यक्तिकं य-
त्तत्रैवान्तर्दिनकर तथा ब्राह्ममन्यत्ततोऽल्पम् ।
दैवं पित्र्यं क्रमपरिगतं मानुषं चाल्पमल्पं
कुर्वन्कुर्वन्कलयसि जगत्पञ्चधावर्तनाभिः ॥२८॥

हे दिनकर ! यत् जगत्-बीजम् आव्यक्तिकं नक्तंदिनम् (अस्ति), तत् कृत्वा, तथा तत्रैव अन्तर् ततः अल्पं ब्राह्मं (नक्तंदिनं कृत्वा, एवम्) दैवं, पित्र्यं, मानुषं च (नक्तंदिनं) क्रम-परिगतम् अल्पम् अल्पं कुर्वन् कुर्वन् पञ्चधा आवर्तनाभिः जगत् कलयसि ॥२८॥

हे (चित्स्वरूप) सूर्य ! आप (पहिले) उस प्राकृतिक दिन (अर्थात् दिन और रात के समय-विभाग) को रचते हैं, जो (सारे) जगत का कारण है । (फिर) उसी दिन के अन्दर उस से छोटे ब्रह्मा के दिन को (रच कर) देवताओं, पितरों और मनुष्यों के दिनों को रचते हैं, जो क्रम-पूर्वक एक दूसरे से (परिमाण में) छोटे होते हैं । (इस प्रकार आप इन) पाञ्च प्रकार के चक्करों से जगत की रचना करते हैं ॥२८॥

अर्थात् संधियों पर स्वाभाविक रूप से ज़रा ठहरने में आधी आधी त्रुटि लगती है । इस प्रकार प्राणापान को हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक सञ्चार करने में पंद्रह त्रुटियों का समय लगता है और यही पंद्रह त्रुटियां पक्ष के पंद्रह दिनों के समान मानी गई हैं । प्राण के हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक चलने के समय (अर्थात् पंद्रह त्रुटियों) को कृष्णपक्ष के पंद्रह दिनों के समान और अपान के बाह्य-द्वादशान्त से हृदयाकाश तक पहुँचने के समय (अर्थात् पंद्रह त्रुटियों) को शुक्ल-पक्ष के पंद्रह दिनों के समान माना गया है ।

तत्त्वालोके तपन सुदिने ये पुरं संप्रबुद्धाः
ये वा चित्तोपशमरजनीयोगनिद्रामुपेताः ।
*तेऽहोरात्रोपरमपरमानन्दसंध्यासु सौरं
भित्त्वा ज्योतिः परमपरमं यान्ति निर्वाणसंज्ञम् ॥२६॥

हे तपन ! ये (योगिनः) तत्त्व-आलोके सुदिने पुरं संप्रबुद्धाः, ये वा चित्त-उपशम-रजनी-योगनिद्राम् उपेताः (भवन्ति), ते अहोरात्र-उपरम-परमानन्द-संध्यासु सौरं ज्योतिः भित्त्वा परम-परमं निर्वाण-संज्ञं (पदं) यान्ति ॥२६॥

हे सूर्य ! जो (योगी-जन) आत्म-ज्ञान रूपी प्रशस्त दिन के समय पूर्ण रूप में सचेत हो जाते हैं और जो (संकल्प-विकल्पों से रहित) चित्त की शान्ति रूपिणी रात में योगनिद्रा में मग्न हो जाते हैं, वे (योगी) दिन और रात (अर्थात् प्राण और अपान) की निवृत्ति रूपी परमानन्द से पूरित संध्याओं के समय (प्राण रूपी) सूर्य के स्थूल प्रकाश को हटा कर मोक्ष नामक अति उत्तम पदवी को प्राप्त होते हैं ॥२६॥

---

२८ * स्वच्छन्द आदि बृहत् ग्रन्थों में उपरोक्त दिन-रात्रियों के विषय में निम्न-लिखित रीति से वर्णन किया गया है :—

मनुष्य-संबन्धी दिन-रात्रि तीस मुहूर्त्तों की होती है । इस रीति के अनुसार एक वर्ष में दो अयन होते हैं; उत्तरायण तथा दक्षिणायन । दक्षिणायन में पितरों तथा देवताओं की रात्रि और उत्तरायण में दिन होता है । चार हज़ार युगों का एक कल्प होता है, इसे ब्रह्मा का एक दिन माना जाता है । इसी रीति से ब्रह्मा की आयु सौ वर्ष में समाप्त होती है । ब्रह्मा की यह आयु एक प्राकृतिक दिन के समान मानी गई है । इन उपरोक्त दिन-रात्रियों की सृष्टि तथा संहृति चित्सूर्य ही किया करता है ।

आब्रह्मेदं नवमिव जगज्जङ्गमस्थावरान्तं
सर्गे सर्गे विसृजसि रवे! गोभिरुद्रिक्तसोमैः ।
दीप्तैः प्रत्याहरसि च लये तद्यथायोनि भूयः
सर्गान्तादौ प्रकटविभवां दर्शयन्रश्मिलीलाम् * ॥३०॥

हे रवे! (त्वम्) आब्रह्म जङ्गम-स्थावर-अन्तम् इदं जगत् दीप्तैः उद्रिक्त-सोमैः गोभिः सर्गे सर्गे नवम् इव विसृजसि, (तथा) तत् (इदं जगत्) लये च यथा-योनिः भूयः प्रत्याहरसि। (एवं त्वं) सर्ग-अन्त-आदौ प्रकट-विभवां रश्मि-लीलां दर्शयन् (स्थितः असि) ॥३०॥

हे (चित्-स्वरूप) सूर्य! आप ब्रह्मा से लेकर स्थावर और जङ्गम तक (सभी वस्तुओं से युक्त) इस (सारे) संसार को अपनी उज्ज्वल तथा अमृत-मय किरणों से प्रत्येक सृष्टिकाल में नये सिरे से उत्पन्न करते हैं। प्रलय के समय अपने कारण के अनुसार उस (जगत) को फिर संहृत करते हैं। (इस प्रकार) आप सृष्टि के प्रारम्भ और अंत के समय प्रकट ऐश्वर्य वाली (अपनी) चिद्रश्मियों की लीला को दिखाते हैं ॥३०॥

---

२८ ❀ प्राण-अपान रूपी दिन-रात के अवसान में ही आन्तरिक संध्याओं का अनुभव होता है।

२६ † सूर्य संबन्धी ज्योति प्राणों के प्रसरप्रवेशात्मक स्थूल गति की ओर ही संकेत करती है।

३० * ब्रह्मा से लेकर स्थावर, जंगम आदि वर्ग तक सभी वस्तुओं से युक्त इस सारे संसार का उत्पन्न तथा नष्ट होना ही उस पारमार्थिक सूर्य की शक्ति रूपिणी किरणों का विकास है। इस लिए संसार की सृष्टि और संहृति से इस की असत्यता का विचार करना सर्वथा असंगत है।

श्रित्वा नित्योपचितमुचितं *ब्रह्मतेजःप्रकाशं
रूपं सर्गस्थितिलयमुचा सर्वभूतेषु मध्ये ।
अन्तेवासिष्विव सुगुरुणा यः परोक्षः प्रकृत्यां
+प्रत्यक्षोऽसौ जगति भवता दर्शितः स्वात्मनात्मा ॥३१॥

(हे भगवन् !) सर्ग-स्थिति-लय-मुचा भवता स्वात्मना नित्य-उपचितम् उचितं ब्रह्म-तेजः-प्रकाशं रूपं श्रित्वा, सर्व-भूतेषु मध्ये अन्तेवासिषु सुगुरुणा इव असौ आत्मा जगति प्रत्यक्षः दर्शितः, यः प्रकृत्या परोक्षः (अपि अस्ति) ॥३१॥

(हे भगवान् !) आप सृष्टि, स्थिति और संहार (के चक्कर) से मुक्त हैं । (आप) सदा परिपूर्ण होने वाले, प्रशंसनीय और ब्रह्मतेज के प्रकाश से युक्त रूप का आश्रय लेते हैं और संसार के सभी प्राणियों के बीच में (अपने भक्तों को) स्वयं ही उस आत्मा का प्रत्यक्ष रूप में दर्शन कराते हैं, जो स्वभाव से ही अदृश्य है, जैसे तत्त्वदर्शी गुरु (अपने) शिष्यों को कराता है ॥३१॥

---

३१ * सारे संसार में जो सब से बड़ा है और जो इस संसार को अपने प्रकाश से बढ़ाता है, उसे ब्रह्म कहते हैं ।

३१ + उपरोक्त श्लोक में कहा गया है कि आत्मा स्वभाव से परोक्ष होते हुए भी भक्तों को प्रत्यक्ष रूप में दीख पड़ती है । अब यहां यह शंका उठती है कि जो वस्तु स्वभाव से ही परोक्ष हो, उस का प्रत्यक्ष होना कहां तक संभव है । इस शंका का समाधान तो यों हो सकता है कि वास्तव में भक्त-जन उस आत्मा की प्रत्यक्षता का अनुभव इन चर्म-चक्षुओं से नहीं करते, अपितु ज्ञान से ही उस के आनन्द-रस का अनुभव करते हैं । इस लिए इस श्लोक में प्रत्यक्ष शब्द का संकेत चर्म-चक्षुओं से नहीं, वरन् ज्ञान के द्वारा ही आत्मा की स्थिति का अनुभव करने की ओर है ।

लोकाः सर्वे वपुषि नियतं ते *स्थितास्त्वं च तेषा-
मेकैकस्मिन्युगपदगुणो विश्वहेतोर्गुणीव ।
इत्थंभूते भवति भगवन्न! त्वदन्योऽस्मि सत्यं
किन्तु †ज्ञस्त्वं परमपुरुषोऽहं प्रकृत्यैव चाज्ञः ॥३२॥

हे भगवन् ! विश्व-हेतोः ते वपुषि सर्वे लोकाः नियतं स्थिताः । त्वं च तेषाम् एक-एकस्मिन् (रूपे) युगपत् (स्थितः, अतः त्वम्) अगुणः (अपि) गुणी इव (प्रतिभासि) । इत्थंभूते भवति (सति, अहं) न त्वद्-अन्यः अस्मि, (इदं तु) सत्यम् । किन्तु त्वं परमपुरुषः ज्ञः, अहं च प्रकृत्या एव अज्ञः (अस्मि)॥३२॥

हे भगवान् ! आप सारे संसार के कारण हैं । आप के स्वरूप में सारे लोक (अर्थात् तीनों लोकों में होने वाले सभी जड़ और चेतन पदार्थ) सदा स्थित रहते हैं और आप उन में से प्रत्येक (के रूप) में एक ही समय पर (सदा स्थित रहते) हैं । (इस लिए आप) निर्गुण होने पर (भी) सगुण के समान हैं । जब आप ऐसे (कहे जा सकते) हैं, तो सचमुच ही मैं आप से भिन्न (कोई चीज़) नहीं हूँ । किन्तु (हम दोनों में भेद यही है कि) आप परमपुरुष और सर्वज्ञ हैं और मैं (आप की ही माया से प्रभावित होने के कारण) स्वाभाविक रूप से अल्पज्ञ (और मूर्ख) हूँ ॥३२॥

---

३२ * सारे ब्रह्मादि लोक ईश्वर में ठहरे हुए हैं और ईश्वर उन में ठहरा हुआ है । ये एक दूसरे से विरुद्ध दो बातें इस श्लोक में कही गई हैं । यह कथन वहीं लागू हो सकता है, जहां परस्पर सजातीय वस्तुओं का ही संबन्ध हो, अर्थात् दो विजातीय वस्तुओं में यह नियम नहीं घट सकता । घटाकाश में विस्तृत आकाश और विस्तृत आकाश में घटाकाश इसी लिए स्थित हैं, क्योंकि वे दोनों सजातीय ही हैं, अर्थात् आकाशत्व दोनों में समान ही है । अतः सिद्ध होता है कि

संकल्पेच्छाद्यखिलकरणप्राणवाण्यो वरेण्याः
संपन्ना मे त्वदभिनवनाज्जन्म चेदं शरण्यम् ।
मन्ये चास्तं *जिगमिषु शनैः पुण्यपापद्वयं त-
†द्भक्तिश्रद्धे तव चरणयोरन्यथा नो भवेताम् ॥३३॥

(हे दिनपते ! अहं) मन्ये (यत्) त्वद्-अभिनवनात् मे संकल्प-इच्छा-आदि-अखिल-करण-प्राण-वाण्यः वरेण्याः संपन्नाः । इदं (मम) जन्म च शरण्यं (संपन्नम्) । तत् (मम) पुण्य-पाप-द्वयं च (अपि) शनैः अस्तं जिगमिषु (भवति), अन्यथा तव चरणयोः भक्ति-श्रद्धे नो भवेताम् ॥३३॥

(हे सूर्य भगवान् !) मेरा विचार है कि आप की स्तुति करने के फल-स्वरूप मेरे संकल्प, इच्छायें, सभी इन्द्रियां, प्राण और वाणी आदि वरणीय बन गये हैं (अर्थात् लोकानुग्रह करने के साधन बन गये हैं)। (मेरा) यह जन्म (आर्त्तों की दुःखनिवृत्ति करने के कारण) रक्षक बन गया है। (इसके अतिरिक्त मेरे) वे (अर्थात् अनेक जन्मों में किये गये) पुण्य और पाप (रूपी कर्म) भी धीरे धीरे नष्ट होने को हैं। नहीं तो आप के चरणों की भक्ति और श्रद्धा (मुझे प्राप्त) न होती॥ ३३ ॥

ईश्वर और जीव परस्पर सजातीय ही हैं, तभी तो जीव का ईश्वर में ठहरना और ईश्वर का जीव में स्थित होना सिद्ध हो सकता है।

३२ † कवि ने इस श्लोक में यह बात स्पष्टता से दिखाई है कि परमात्मा सर्वज्ञ है और जीव अल्पज्ञ है। अतः इन दोनों का आपस में महान् भेद है, पर यह भेद वास्तविक भेद नहीं है, अपितु आरोपित किया हुआ है। माया रूपी अज्ञान को हटाने से यह भेद नहीं रहता।

३३ * ज्ञान-प्राप्ति के समय ज्ञानी के संचित-कर्म तथा आगामि-कर्म स्वयं दग्ध हो जाते हैं, पर फिर भी उसे प्रारब्ध कर्मों को जन्म

सत्यं भूयो जननमरणे त्वत्प्रपन्नेषु न स्त-
स्तत्राप्येकं तव नुतिफलं जन्म याचे, तदित्थम् ।
*त्रैलोक्येशः शम इव परः पुण्यकायोऽप्ययोनिः
संसाराब्धौ प्लुव इव जगत्तारणाय† स्थिरः स्याम् ॥३४॥

(हे भगवन् ! इदं) सत्यं (यत्) त्वत्-प्रपन्नेषु जनन-मरणे भूयः न स्तः । तत्रापि (अहं) तव नुति-फलम् एकं जन्म याचे । तत् इत्थं (भवतु—अहं) त्रैलोक्य-ईशः परः शमः इव पुण्य-कायः अपि अयोनिः (सन्) संसार-अब्धौ जगत्-तारणाय स्थिरः प्लवः इव स्याम् ॥३४॥

(हे सूर्य भगवान् ! यह बात) सत्य है कि आप की शरण में आये हुए (भक्त-जन) जन्म-मरण (के चक्कर) से सदा के लिए छूट जाते हैं । (अतः मैं भी आप का भक्त होने से जन्म-मरण के बन्धन से सदा मुक्त हूँ) तथापि मैं आप की स्तुति के फलस्वरूप (आप से) एक और जन्म (की प्राप्ति) के लिए प्रार्थना करता हूं । वह (जन्म)

भर अर्थात् देहान्त तक अवश्य भोगना पड़ता है । इसी लिए कवि ने इस श्लोक में पुण्य-पाप रूपी कर्मों को नष्ट-प्राय ही कहा है, संपूर्ण रूप से इनका नष्ट होना नहीं कहा है ।

३३ † भक्ति तथा श्रद्धा परमात्मा की अनुग्रह-शक्ति का प्रथम चिह्न हैं । ज्ञानियों का भी कहना है—

'तस्यैव तु प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ।'
'तत्रैतत्प्रथमं चिह्नं रुद्रे भक्तिः सुनिश्चला'

अर्थात् परमात्मा के अनुग्रह से ही मनुष्यों के हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है । परमात्मा की अचल भक्ति का हृदय में स्वयं उत्पन्न होना ही उसके अनुग्रह का पहिला तथा मुख्य चिह्न है ।

ऐसा हो कि मैं तीनों लोकों का स्वामी, सर्वश्रेष्ठ, शांति-स्वरूप, पवित्र शरीर वाला और योनि से न उत्पन्न हुआ (अर्थात् इच्छा-मात्र से ही शरीर धारण करने वाला) होते हुए (इस) संसार रूपी समुद्र में जगत (के प्राणियों) को तारने के लिए एक स्थिर नौका के समान बनूं ॥ ३४ ॥

*सौषुम्णेन त्वममृतपथेनैत्य शीतांशुभावं
पुष्णास्यग्रे सुरनरपितॄन् शान्तभाभिः कलाभिः ।
पश्चादम्भो विशसि विविधाश्चौषधीस्तद्गतोऽपि
प्रीणास्येवं त्रिभुवनमतस्ते जगन्मित्रतार्क ॥३५॥

हे अर्क ! त्वम् अमृत-पथेन सौषुम्णेन शीतांशु-भावम् एत्य अग्रे शान्त-भाभिः कलाभिः सुर-नर-पितॄन् पुष्णासि, पश्चात् अम्भः विविधाः औषधीः च विशसि । एवं तद्-गतः अपि त्रिभुवनं प्रीणासि । अतः ते जगत्-मित्रता (युक्ति-युक्ता भवति) ॥३५॥

हे सूर्य ! आप सुषुम्णा के अमृतमय मार्ग से चन्द्र-भाव को प्राप्त होकर पहले शान्त बनी हुई किरणों से युक्त कलाओं से देवताओं, मनुष्यों और पितरों का पालन-पोषण करते हैं । उसके बाद जल तथा नाना प्रकार की औषधियों में प्रविष्ट हो कर तीनों लोकों को सुखी बनाते हैं । इस कारण से आप की जगन्मित्रता स्पष्ट रूप में दीख पड़ती है । (अर्थात् शास्त्रों में जो 'मित्र' शब्द आप के नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है, वह वास्तव में सार्थक ही है) ॥३५॥

---

३४ * उपरोक्त श्लोक में तीनों लोकों का स्वामित्व प्राप्त करने का अभिप्राय यही है कि मैं जाग्रत, स्वप्न तथा सुषुप्ति, इन तीनों अवस्थाओं में स्वतन्त्र बनूं अर्थात् तीनों अवस्थाओं के वैकल्पिक उपद्रवों से सदा के लिये मुक्त हो जाऊँ ।

३४ † 'मैं संसार-सागर में डूबे हुए प्राणी-मात्र को पार कराने में पोत का काम करूँ'—इस वाक्यावली से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि सच्चे भक्त लोकोद्धार करना ही अपना मुख्य उद्देश्य समझते हैं, क्योंकि सच्चे भक्त अपने उद्देश्य की पूर्ति के कारण कृतकृत्य बने होते हैं। अतः उन्हें लोकोद्धार करने से भिन्न अपना कोई भी प्रयोजन नहीं होता। विद्वानों ने कहा भी है—

'स्वं कर्तव्यं किमपि कलयंल्लोक एष प्रयत्ना-
न्नो पारार्थ्यं प्रति घटयते काञ्चन स्वप्रवृत्तिम्।
यस्तु ध्वस्ताखिलभवमलो भैरवीभावपूर्णः
कृत्यं तस्य स्फुटमिदमियल्लोककर्तव्यमात्रम्॥'

अर्थात् यद्यपि संसारी मनुष्य प्रत्येक कार्य बड़े प्रयत्न से करते हैं, तो भी वह कार्य स्वार्थ पर ही अवलम्बित होता है। किन्तु जो ज्ञानी परमात्मभाव से परिपूर्ण और सांसारिक मलों से रहित होता है, उस का मुख्य कार्य लोकानुग्रह ही होता है।

३५ ❀ इस स्थल में 'चन्द्रभाव' का तात्पर्य प्राणापानवृत्ति से है। 'देवताओं, मनुष्यों और पितरों', इन शब्दों में क्रम से सात्त्विक, राजस तथा तामस वृत्तियों की ओर संकेत है। 'जल' शब्द से पञ्चमहाभूतों का उपलक्षण होता है। अभिप्राय यह है कि सुषुम्णा नाड़ी से श्वास उत्पन्न होता है, उसे ही चन्द्र भी कहते हैं। प्राण-अपान की संधि को ही शीतल किरणों का नाम दिया जाता है। इसी संधि के द्वारा सात्त्विक, राजस तथा तामसिक वृत्तियों को पुष्टि मिलती है और उस के बाद पञ्चमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। इन में से जल वर्षा के रूप में औषधियों और वृक्षों आदि वस्तुओं को पुष्ट करके लोगों को सुखी बनाता है। इसी हेतु विद्वानों ने परमात्मा का जो 'जगत्-मित्र' नाम रक्खा है, वह सार्थक ही है।

इसी भान्ति बाह्य सूर्य भी सुषुम्णा मार्ग से अमृतसंक्रमण

मन्दाक्रान्ते तमसि भवता नाथ! दोषावसाने
नान्तर्लीना मम मतिरियं *गाढनिद्रां जहाति ।
तस्मादस्तंगमिततमसा पद्मिनीवात्मभासा
सौरीत्येषा दिनकर! परं नीयतामाशु बोधम् ॥३६॥

हे नाथ ! हे दिनकर ! तमसि मन्द-आक्रान्ते दोष-अवसाने अन्तर्लीना (अपि) इयं मम मतिः गाढ-निद्रां न जहाति । तस्मात् भवता अस्तं-गमित-तमसा आत्म-भासा एषा (मम मतिः) सौरी पद्मिनी इव परं बोधम् आशु नीयताम् ॥३६॥

हे (चित् रूपी) सूर्य भगवान् ! (अज्ञान रूपी) अन्धकार तथा (विकल्पों आदि) दोषों के नष्ट होने पर अन्तर्मुख अवस्था को प्राप्त हुई (भी) मेरी यह बुद्धि (मोह रूपी) गाढ-निद्रा को नहीं त्यागती । इस लिए आप तमोगुण रूपी अन्धकार को नष्ट करने वाले अपने प्रकाश से सूर्य (अर्थात् आप) की भक्ति करने वाली मेरी इस बुद्धि को शीघ्र ही सच्चे ब्रह्मज्ञान से युक्त कीजिये; जैसे (लाल या नीला) कमल रात की समाप्ति तथा अन्धकार के दूर होने पर (भी) संकुचित ही रहता है और खिलने नहीं पाता, (परन्तु) बाह्य सूर्य अन्धकार को दूर करने वाली अपनी उज्ज्वल किरणों से तत्क्षण ही (अर्थात् उदय करते ही) उसे विकसित करता है ॥३६॥

करने पर चन्द्र-भाव को प्राप्त होता है और फिर चन्द्र की शान्ति-दायिनी अमाकला के द्वारा देवताओं आदि को संतुष्ट करता है। तदनन्तर वर्षा का रूप धारण करके जल में प्रविष्ट हो कर औषधियों को उत्पन्न करता है। इस प्रकार तीनों लोकों को तृप्त कर के अपनी जगन्मित्रता प्रकट करता है।

३६ * इस श्लोक में यह शंका उठती है कि अन्तर्मुख अवस्था को प्राप्त हो कर भी मोह रूपिणी गाढ़-निद्रा को न

येन ग्रासीकृतमिव जगत्सर्वमासीत्तदस्तं
*ध्वान्तं नीत्वा पुनरपि विभो! तद्दयाघ्रातचित्तः।
धत्से †नक्तंदिनमपि गती शुक्लकृष्णे विभज्य
त्राता तस्माद्भव परिभवे दुष्कृते मेऽपि भानो! ॥३७॥

हे विभो! येन (ध्वान्तेन) सर्वं जगत् ग्रासी-कृतम् आसीत्, तत् ध्वान्तम् अस्तं नीत्वा, तद्-दया-आघ्रात-चित्तः शुक्ल-कृष्णे गती विभज्य पुनर् अपि तत् (अन्धकारात्मकं) नक्तंदिनं धत्से। तस्मात् हे भानो! मे दुष्कृते परिभवे अपि त्राता भव ॥३७॥

हे व्यापक प्रभो! जिस (अज्ञान रूपी) अन्धकार ने (इस) समस्त संसार को ग्रस्त किया है, उसे (अपने भक्तों पर दयालु होने के कारण) आप नष्ट करते हैं, (और फिर) उसी (अन्धकार) पर हृदय में दया करते हुए शुक्ल-कृष्ण-गतियों का विभाग करके (अन्धकार-मय) दिन-रात की पुनः पुष्टि करते हैं। (चूंकि आप इस तुच्छ अन्धकार पर भी कृपा करते हैं) इस लिए, हे चित्सूर्य! (मुझे अपना भक्त समझ कर, व्युत्थान अर्थात् आत्मस्थिति से अलग होना ही) जो पाप का फल है, उस क्लेश को दूर करने में आप मेरे रक्षक बनें ॥३७॥

त्यागने से क्या अभिप्राय है। इस का समाधान यों किया जा सकता है कि योगी को, समाधि की अवस्था प्राप्त होने पर भी, उस में से निकलने के उपरान्त, सांसारिक विकल्प तब तक बाधित करते ही रहते हैं, जब तक कि व्युत्थान अर्थात् जाग्रत अवस्था में भी समाधि की भान्ति ही परमात्मा के स्वरूप का अनुभव उसे न हो। फिर भला समाधि की अवस्था होते हुए भी उसे मोह आदि विकल्प क्यों न बाधित करें।

३७ * अन्धकार शब्द में भी यहां प्राण-अपान की ओर ही संकेत है। प्राणापान को इसी लिए अन्धकार का नाम दिया गया है कि प्राणापान के होने से ही वैकल्पिक वृत्तियों की पुष्टि होती है।

आसंसारोपचितसदसत्कर्मबन्धाश्रितानां-
*माधिव्याधिप्रजनमरणक्षुत्पिपासार्दितानाम् ।
मिथ्याज्ञानप्रबलतमसा† नाथ चान्धीकृतानां
त्वं नस्त्राता भव करुणया ‡यत्र तत्र स्थितानाम् ॥३८॥

हे नाथ ! आ-संसार-उपचित-सत्-असत्-कर्म-बन्ध-आश्रितानाम् आधि-व्याधि-प्रजन-मरण-क्षुध्-पिपासा-अर्दितानां मिथ्या-ज्ञान-प्रबल-तमसा अन्धीकृतानां च यत्र तत्र स्थितानां नः करुणया त्राता भव ॥३८॥

हे नाथ ! हम अनादि-काल से उपार्जित किये हुए पुण्य-पापात्मक कर्म-बन्धनों का आश्रय ले कर आधि, व्याधि, जन्म, मरण तथा भूख-प्यास से आर्त बने हुए हैं। इस के अतिरिक्त हम मिथ्याज्ञान रूपी बड़े घने अन्धकार से अन्धे बने हुए हैं। (अतः हे करुणानिधि !) हम जहां भी कहीं ठहरे हों, वहीं आप दया कर के हमारी रक्षा करें ॥३८॥

---

३७ † इस श्लोक में दिन-रात्रि से अभिप्राय प्राण-अपान का है और शुक्लात्मक तथा कृष्णात्मक गति में प्राण-अपान के घटने और बढ़ने की ओर संकेत है। बाहिरी वायु के अन्दर जाने के समय प्राण-कलाएं उसी भान्ति बढ़ती रहती हैं, जिस भांति शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की कलाएं बढ़ती रहती हैं। इसी प्रकार भीतरी वायु के बाहिर आने के समय प्राण-कलाएं उसी भांति क्षीण होती रहती हैं, जिस भांति कृष्णपक्ष में चन्द्रमा की कलाएं क्रम-पूर्वक घटती रहती हैं।

३८ * 'आधि' तथा 'व्याधि' का अर्थ क्रम से मानसिक पीड़ा और शारीरिक पीड़ा है।

३८ † अन्धकार की अधिकता से यह अभिप्राय है कि यद्यपि साधनों के द्वारा अन्धकार को नष्ट भी किया जाय, तो भी निर्व्युत्थान समाधि जब तक प्राप्त न हो, तब तक इस अन्धकार की पुनरुत्पत्ति सदा होती ही रहती है।

सत्यासत्यस्खलितवचसां *शौचलज्जोज्झिताना-
मज्ञानानामफलसफलप्रार्थनाकातराणाम् ।
सर्वावस्थास्वखिलविषयाभ्यस्तकौतूहलानां
त्वं नस्त्राता भव पितृतया भोगलोलार्भकाणाम् ॥३६॥

(हे अर्क !) सत्य-असत्य-स्खलित-वचसां, शौच-लज्जा-उज्झितानाम्, अज्ञानानाम्, अफल-सफल-प्रार्थना-कातराणां, सर्वावस्थासु अखिल-विषय-अभ्यस्त-कौतूहलानां, भोग-लोल-अर्भकाणां, नः त्वं पितृतया त्राता भव ॥३६॥

हे भगवान् ! सत्य तथा असत्य बोलने के कारण हमारी वाणी भ्रष्ट हुई है। हम (शारीरिक और मानसिक) शौच तथा लज्जा से रहित और अज्ञानी हैं । हम सफल और निष्फल प्रार्थना करने के कारण अधीर बने हुए हैं । हम प्रत्येक अवस्था में सभी विषयों (के भोगने) का बार बार चाव रखते हैं। (सच तो यह है कि) हम विषय-सुखों के (उपभोग के) लिए अत्यन्त उत्सुक (होने के कारण) चंचल बालकों के समान हैं । इस लिए आप (कृपा कर के) पिता की भान्ति हमारे रक्षक बनें । (अर्थात् जिस प्रकार बालक के अवगुणों पर पिता ध्यान नहीं देता, उसी प्रकार आप भी हमारे अवगुणों पर तनिक भी ध्यान न दें, क्योंकि तत्व-दृष्टि से तो आप ही हमारे पिता हैं) ॥ ३६ ॥

---

३८ * 'जहां भी कहीं ठहरे हों', इन शब्दों से लेखक का अभिप्राय यह है कि ईश्वर के स्वरूप का अनुभव करने में उसे देश, काल तथा आकार की अवच्छिन्नता न रहे ।

३६ * इस श्लोक में लज्जा से रहित होने का यह अभिप्राय है कि हमें अधर्माचरण में ही लज्जा होनी चाहिये थी, पर न मालूम हम क्यों उस लज्जा को तिलाञ्जलि दे बैठे हैं ।

*यावद्देहं जरयति जरा नान्तकादेत्य दूती
नो वा भीमस्त्रिफणभुजगाकारदुर्वारपाशः ।
गाढं कण्ठे लगति, सहसा जीवितं लेलिहान-
स्तावद्भक्ताभयद सदयं श्रेयसे नः प्रसीद ॥४०॥

हे भक्त-अभयद ! यावत् अन्तकात् दूती जरा एत्य (मम) देहं न जरयति, यावत् च भीमः त्रि-फण-भुजग-आकार-दुर्वार-पाशः (मम) जीवितं लेलिहानः (सन्) कण्ठे सहसा गाढं न लगति, तावत् (एव) श्रेयसे सदयं नः प्रसीद ॥४०॥

हे भक्तों को अभय देने वाले (चित्-सूर्य) ! जब तक महाकाल की दूतिका वृद्धावस्था के रूप में आ कर (हमारे) शरीर को जर्जरित नहीं करेगी और जब तक उस का भयंकर, तीन फणों से युक्त सांप के आकार का और अनिवार्य पाश (हमारे) जीवन का आस्वाद लेने के लिए (हमारे) कण्ठ में एकबारगी नहीं पड़ेगा, तब तक ही (हमारे) कल्याण के लिए हम पर प्रसन्न होने की दया करें ॥ ४० ॥

---

४०. * इस श्लोक में चित्सूर्य से प्रार्थना की गई है कि जब तक मृत्यु से होने वाली दुर्दशा को हम प्राप्त न हो जायें, अर्थात् जब तक हम मृत्यु का ग्रास न बनें, तब तक ही वे अपने स्वरूप के प्रकट करने की हम पर दया करें, ताकि हमें मरने का दुःख तनिक भी बाधित न करे ।

विश्वप्राणग्रसनरसनाटोपकोपप्रगल्भं
मृत्योर्वक्त्रं दहननयनोद्दामदंष्ट्राकरालम् ।
यावद्दृष्ट्वा व्रजति न भिया पञ्चतामेष काय-
*स्तावन्नित्यामृतमय रवे पाहि नः कान्दिशीकान् ॥४१॥

हे नित्य-अमृतमय रवे ! विश्व-प्राण-ग्रसन-रसना-आटोप-कोप-प्रगल्भं दहन-नयन-उद्दाम-दंष्ट्रा-करालं मृत्योः वक्त्रं दृष्ट्वा एषः कायः यावत् भिया पञ्चतां न व्रजति, तावत् (एव) कान्दिशीकान् नः पाहि ॥४१॥

हे नित्य-अमृतमय (चित्स्वरूप) सूर्य ! जगत के प्राणों का ग्रास करने वाली जिह्वा के फैलाव से युक्त, क्रोध से भरे हुए और जलाने वाले नेत्रों तथा बड़े प्रबल दान्तों के कारण भयंकर, महाकाल के मुख को देख कर यह (हमारा) शरीर जब तक डर के मारे मृत्यु को प्राप्त न होगा, तब तक ही आप (मृत्यु के डर से) भागते हुए हम लोगों की रक्षा करें ॥ ४१ ॥

---

४१ * यहां जिस 'नित्य-अमृत' की ओर संकेत किया गया है, वह देवताओं के सामान्य अमृत से बहुत उत्कृष्ट है । स्वर्गादि-लोकों में जो अमृत होता है, उसे खा कर देवता अमर तो बनते हैं, किन्तु उनको यह अमरता चिरस्थायिनी नहीं होती । कुछ काल के पश्चात् वे इस अमरता से वञ्चित होते हैं और पुनः जन्म-मरण के चक्कर में फंसते हैं । अतः यह अमृत अनित्य ही कहा जा सकता है । पर परमात्मा का साक्षात्कार होने से आनन्द रूपी जो अमृत प्राप्त होता है, उसका अनुभव करने पर जन्म-मरण से सदा के लिए छुटकारा मिलता है । इसी को 'नित्य-अमृत' कहते हैं और इसी लिए परमात्मा को 'नित्य-अमृतमय' कहा गया है ।

*शब्दाकारं वियदिव वपुस्ते यजुःसामधाम्नः
सप्तच्छन्दांस्यपि च तुरगा ऋङ्मयं मण्डलं च।
एवं सर्वश्रुतिमयतया मद्दयानुग्रहाद्वा
क्षिप्रं मत्तः कृपणकरुणाक्रन्दमाकर्णयेमम् ॥४२॥

(हे भगवन्!) ते यजुः-साम-धाम्नः शब्दाकारं वपुः (त्वद्विहारार्थं) वियत् इव (अस्ति)। सप्त छन्दांसि अपि च (ते) तुरगाः। ऋङ्मयं च ते मण्डलम्। एवं सर्व-श्रुतिमयतया, मत्-दया-अनुग्रहात् वा मत्तः इमं कृपण-करुण-आक्रन्दं क्षिप्रम् आकर्णय ॥४२॥

(हे भगवान्!) यजुर्वेदीय तथा सामवेदीय तेज का शब्दमय स्वरूप आप के (विहार के) लिए आकाश की भान्ति (ठहरा हुआ) है। (गायत्री आदि) सात छन्द (आप के) सात घोड़ों के समान हैं और आप का मण्डल ऋग्वेद की ऋचाओं का बना हुआ है। इस प्रकार सभी श्रुतियों (अर्थात् वेदों) का स्वरूप होने के कारण अथवा मुझ पर दयालु होकर अनुग्रह करने के हेतु मेरी इस क्षुद्र और करुण पुकार को शीघ्र सुन लीजिए ॥ ४२ ॥

---

४२ * यजुर्वेद तथा सामवेद का जो शब्दाकार स्वरूप है, उसकी उपमा आकाश से इस कारण से दी गई है कि आकाश का गुण भी शब्द ही है। इसके अतिरिक्त गायत्री आदि सात छन्दों की उपमा सूर्य के सात घोड़ों से इस लिए दी गई है कि वेद की ऋचाओं के उच्चारण करने की गति उसी प्रकार सात छन्दों से सुगम होती है, जिस प्रकार घोड़ों के शीघ्र चलने से एक स्थान से दूसरे स्थान में पहुंचना सुगम हो जाता है। जिस भांति 'प्रभापरिवेश' अर्थात् वर्तुलाकार चिह्न सूर्य देवता की कान्ति के चारों ओर व्याप्त हुआ दिखाई देता है, उसी प्रकार ऋग्वेद की ऋचाएं भी समस्त वेदों के तात्पर्य में व्याप्त हैं। अतः ऋग्वेद को ही चित्सूर्य के मण्डल से उपमा दी गई है।

नाशं *नास्मच्चरणशरणा यान्त्यपि ग्रस्यमानाः
दे वैरित्थं †सितमिव यशो दर्शयन्स्वं त्रिलोक्याम् ।
मन्ये सोमं क्षततनुममागर्भवृद्ध्या विवस्व-
न्शुक्लच्छायां नयसि शनकैः स्वां सुषुम्णांशुभासा ।।४३।।

हे विवस्वन् ! अस्मत्-चरण-शरणाः दे वैः अपि ग्रस्यमानाः (सन्तः) नाशं न यान्ति—इत्थं स्वं सितं यशः त्रिलोक्यां दर्शयन् क्षत-तनुं सोमम् अमा-गर्भ-वृद्ध्या सुषुम्णा-अंशु-भासा स्वां शुक्लच्छायां शनकैः नयसि—इति (अहं) मन्ये ।।४३।।

हे सूर्य भगवान् ! मेरा विचार है कि आप तीनों लोकों में अपने इस उज्ज्वल यश को—कि मेरे चरणों की शरण में आये हुए (मेरे भक्त) देवताओं आदि से ग्रसित होने पर भी नष्ट नहीं होते हैं—दिखाने के लिए (ही) क्षीण बने हुए चन्द्रमा की अमा-कला को सुषुम्णा नाड़ी की किरणों के प्रकाश से बढ़ा कर धीरे-धीरे (उस चन्द्रमा को) अपनी शुक्लपक्ष की ज्योति को (पुनः) प्राप्त कराते हैं ।।४३।।

---

४३ * जिस भांति चन्द्रमा की कलायें कृष्णपक्ष में देवताओं आदि से ग्रस्त होती हैं और अमावस्या को वह चन्द्रमा क्षीण बन कर सूर्य देवता की शरण में जाने से, शुक्लपक्ष में अपनी प्यारी कलाओं को प्राप्त करता है, उसी प्रकार श्वास प्राण-वायु बन कर अर्थात् हृदयाकाश से बाह्य-द्वादशान्त तक निकलते समय क्रम से इन्द्रियों की वृत्तियों से क्षीण होता हुआ बाह्य-द्वादशान्त पर प्राण-संधि-रूपी सूर्य देवता की शरण में जाता है। तदनन्तर वह (श्वास) अपान-वायु बन कर बाह्य-द्वादशान्त से हृदयाकाश में प्रवेश करते समय अपनी परिपूर्णता को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि

आस्तां जन्मप्रभृति भवतः सेवनं, तद्धि लोके
वाच्यं केनापरिमितफलं *भुक्तिमुक्तिप्रकारम् ।
ज्योतिर्मात्रं स्मृतिपथमितो जीवितान्तेऽपि भास्व-
न्निर्वाणाय प्रभवसि सतां तेन ते कः समोऽन्यः ॥४४॥

हे भास्वन् ! जन्म-प्रभृति यत् भवतः सेवनं तत् आस्ताम् । हि तत् भुक्ति-मुक्ति-प्रकारम् अपरिमित-फलं लोके केन वाच्यम् (न केनचित् वक्तुं शक्यम्) । (परन्तु) त्वं सतां जीवित-अन्ते अपि ज्योतिः-मात्रं स्मृति-पथम् इतः (येन) निर्वाणाय प्रभवसि तेन ते समः कः अन्यः (अस्ति) ॥४४॥

हे सूर्य ! भोग और मोक्ष का (अमूल्य) साधन और असीमित फल से युक्त जो जन्म से ही आप का भजन करना है, वह रहे (अर्थात् उस का क्या कहना है), क्योंकि संसार में इसका वर्णन कौन कर सकता है ? (इस के प्रत्युत) सत्पुरुष (विघ्नों आदि से अभिभूत होने के कारण जन्म भर आप का चिंतन न करने पर, जब अपने) जीवन के अन्त पर भी (अर्थात् मृत्यु के समय) आप के ज्योति-स्वरूप का केवल स्मरण करते हैं, तो आप उन को भी मोक्ष प्रदान करने में समर्थ होते हैं । इस लिए आप के समान (सामर्थ्यवान) और कौन है ? ॥४४॥

प्राण-वायु उस की संधि के संपर्क से ही बार बार प्रवेश करने और उतरने का सामर्थ्य प्राप्त करता है ।

४३ † यद्यपि श्वास छोड़ने के समय प्राण-वायु बाह्य-द्वादशान्त पर पहुंच कर सब प्रकार से नष्ट अर्थात् समाप्त भी हो जाता है, तो भी प्राण-अपान की संधि में स्थित चित्-सूर्य अपने प्रभाव से ही उस श्वास को फिर नव-जीवन प्रदान करता है । इसी प्रभाव की ओर 'शुभ्र-यश' शब्द में संकेत है ।

अप्रत्यक्ष*त्रिदशभजनाद्यत्परोक्षं फलं, त-
त्पुंसां युक्तं, भवति हि समं कारणेनैव कार्यम् ।
प्रत्यक्षस्त्वं सकलजगतां यत्समक्षं फलं मे
युष्मद्भक्तेः समुचितमतस्तत्तु याचे, यथा± त्वाम् ॥४५॥

अप्रत्यक्ष-त्रिदश-भजनात् पुंसां यत् परोक्षं फलं तत् युक्तम् । (यतः) कारणेन समम् एव हि कार्यं भवति । त्वं सकल-जगतां (मध्ये) प्रत्यक्षः (असि), अतः युष्मद्-भक्तेः समुचितं यत् मे समक्षं फलं (स्यात्) तत् तु (अहं) याचे यथा त्वां याचे ॥४५॥

अप्रत्यक्ष देवताओं का भजन करने से मनुष्यों को जो परोक्ष फल मिलता है, वह युक्ति-युक्त ही है, क्योंकि (संसार में) कारण के अनुसार ही कार्य होता है। (पर हे भगवान्!) आप सारे संसार में (व्यापक होने के कारण) प्रत्यक्ष हैं। अतः आप की भक्ति करने से जो प्रत्यक्ष (और इसी लिए) समुचित फल मुझे (प्राप्त हो सकता है) उसी की मैं बार बार याचना करता हूँ, जैसे कि (मैं) आप (की प्राप्ति) की (याचना करता हूँ)। (फिर भला वह फल मुझे क्यों न प्राप्त होगा ?) ॥४५॥

---

४४ * जीवन में ही शिव-भाव के प्रकट होने तथा चिदानन्द में प्रवेश करने का आस्वाद लेने के अर्थ में ही 'भुक्ति' शब्द का प्रयोग किया गया है। यहाँ विषयासक्ति रूपिणी भुक्ति से अभिप्राय नहीं है। इस के प्रत्युत मुक्ति शब्द में देहान्त के बाद आवागमन के फंदे से छूटने की ओर संकेत है। अतः पाठकजन यहाँ यह अवधारण कर लें कि भुक्ति मुक्ति से किसी प्रकार भी न्यून नहीं है, अर्थात् इन दोनों में कोई भी अन्तर नहीं है।

ये चारोग्यं दिशति, भगवान्सेवितोऽप्येवमाहु-
स्ते तत्त्वज्ञा जगति सुभगा *भोगयोगप्रधानाः।
भुक्तेर्मुक्तेरपि च जगतां यच्च पूर्णं सुखानां
तस्यान्योऽर्कादमृतवपुषः† को हि नामास्तु दाता ॥४६॥

'भगवान् सेवितः (सन्) आरोग्यं दिशति' एवं ये आहुः, ते जगति तत्त्वज्ञाः सुभगाः भोग-योग-प्रधानाः च (सन्ति)। हि जगतां भुक्तेः मुक्तेः अपि च यत् सुखानां पूर्णं तस्य (आरोग्यस्य) दाता अमृत-वपुषः अर्कात् अन्यः कः नाम अस्तु ॥४६॥

जो (लोग) कहा करते हैं कि सेवित किया हुआ परमात्मा आरोग्य को देता है, वे (इस) संसार में तत्त्वज्ञानी, ऐश्वर्य-संपन्न और भोग तथा योग को मुख्य मानने वाले हैं, क्योंकि (इस) संसार में सुखों से पूर्ण (आरोग्य) तथा भोग और मोक्ष का देने वाला अमृतमय स्वरूप वाले (आप) सूर्य भगवान् से भिन्न और कौन हो सकता है ?

---

४५ * 'त्रिदश' शब्द देवताओं के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। 'त्रिदश' उन को कहते हैं जो जीने, बढ़ने और मरने की दशाओं से रहित हों, अर्थात् जिन को ये तीनों दशायें भोगनी न पड़ती हों। इस के अतिरिक्त तेंतीस देवता, बारह सूर्य, ग्यारह रुद्र और आठ वसु भी 'त्रिदश' ही समझे जाते हैं।

४५ † मिट्टी घड़े का कारण है और घड़ा उस का कार्य है। कारण बनी हुई मिट्टी घड़े के निर्माण तथा नाश के समय तक अनुगत है। अतः यह स्पष्ट ही है कि कारण के अनुसार ही कार्य होता है।

४५ ‡ इस श्लोक में 'यथा त्वां' कहने का अभिप्राय यह है कि जैसे मुझे साकार मूर्तियों में आप की मूर्ति ही अभीष्ट है, वैसे ही आप की भक्ति के ही समुचित फल की प्राप्ति मुझे अभीष्ट है।

हित्वा हित्वा गुरुचपलतामप्यनेकान्निजार्था-
न्यैरेकार्थीकृतमिव भवत्सेवनं मत्प्रियार्थम् ।
*तेषामिच्छाम्युपकृतिमहं स्वेन्द्रियाणां प्रियाणा-
†मादौ तस्मान्मम दिनपते देहि तेभ्यः प्रसादम् ॥४७॥

हे दिनपते ! यैः (इन्द्रियैः) मत्-प्रियार्थं गुरु-चपलताम् अनेकान् निज-अर्थान् अपि हित्वा हित्वा भवत्-सेवनम् एकार्थीकृतं, तेषां प्रियाणां स्व-इन्द्रियाणाम् अहम् उपकृतिम् इच्छामि । तस्मात् मम आदौ तेभ्यः प्रसादं देहि ॥४७॥

हे दिननाथ ! मेरी प्यारी इन्द्रियों ने मेरी भलाई के लिए (ही) अनेक अनेक विषयों और (अपनी) बड़ी प्रबल चञ्चलता को तिलाञ्जलि देकर आप की उपासना को अपना केवल एक (ही वाञ्छनीय) विषय बनाया है । (अब) मैं (इन के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने के लिए) इन का उपकार करना चाहता हूँ । अतः आप मुझ से पहले इन (इन्द्रियों) पर ही अनुग्रह करें । (मुझ पर अनुग्रह करने की अभी कोई आवश्यकता नहीं ।)

---

४६ * यहाँ भोग तथा योग को मुख्य मानने की बात इस लिए कही गई है कि सांसारिक जन योगाभ्यास से आरोग्य की इच्छा इस लिए करते हैं कि उन्हें सांसारिक भोगों के भोगने में सुगमता प्राप्त हो ।

४६ † यहाँ चित् रूपी सूर्य 'अमृतमय स्वरूप वाला' इस लिए कहा गया है कि उस की शक्ति रूपिणी किरणें बाह्य सूर्य की किरणों की भांति दाहक अर्थात् जलाने वाली नहीं होतीं, किन्तु वे आनन्द देने वाली तथा अमृत के समान अमरता प्रदान करने वाली हैं ।

४७ * इस श्लोक में कवि ने अपना उद्धार कराने का एक नया ही मार्ग बतलाया है । वह अपनी इन्द्रियों के बहाने अपना ही उद्धार कराने की प्रार्थना करता है, क्योंकि जब साधक की इन्द्रियां निर्मल बनती हैं, तो उस की आत्मा स्वयं ही अनुगृहीत होती है ।

किं तन्नामोच्चरति वचनं यस्य नोच्चारकस्त्वं
किं तद्वाच्यं सकलवचसां *विश्वमूर्ते न यत्त्वम् ।
तस्मादुक्तं यदपि तदपि त्वन्नुतौ भक्तियोगा-
दस्माभिस्तद्भवतु भगवंस्त्वत्प्रसादेन धन्यम् ॥४८॥

हे विश्वमूर्ते ! (अस्मिन् जगति) तत् किं नाम वचनम् उच्चरति यस्य उच्चारकः त्वं न (असि), (एवं) सकल-वचसां तत् किं वाच्यं यत् त्वं न (असि)। तस्मात् हे भगवन् ! त्वत्-नुतौ भक्ति-योगात् यत्-अपि तत्-अपि अस्माभिः उक्तं तत् त्वत्-प्रसादेन धन्यं भवतु ॥४८॥

हे विश्व-मूर्ति प्रभो ! (इस संसार में) वह कौन सा वचन बोला जाता है, जिसका उच्चारण आप नहीं करते हैं (और) सभी वचनों में कही हुई वह कौन सी बात (या कौन सा विषय) है जो आप के स्वरूप से भिन्न है ? (अभिप्राय यह है कि ईश्वर ही स्वयं कर्ता और कर्म के रूप में ठहरे हुए हैं।) अतः हे भगवान् ! मैंने आप की स्तुति करने में प्रेम-वश जो कुछ भी कहा है, वह (असमञ्जस होते हुए भी आप के स्वरूप से अभिन्न होने के कारण अवश्य) आप की दया से (हमारे लिए) कल्याणकारी बने ॥४८॥

---

४७ †कवि के इस कथन से, कि 'हे प्रभो ! मुझ से पहिले मेरी इन्द्रियों पर ही अनुग्रह कीजिये,' यह स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि जब तक साधक की इन्द्रियां अनुगृहीत अर्थात् शुद्ध न हों, तब तक उस को ईश्वर के अनुग्रह का पात्र बनने का कोई अधिकार ही नहीं होता।

४८ * इस श्लोक के पूर्वार्ध में परमात्मा में वाच्य और वाचक होने का जो गुण आरोपित किया गया है, उस का संबोधन के रूप में प्रयुक्त हुए उस के 'विश्वमूर्ति' नाम के साथ हेतुहेतुमद्भाव का संबन्ध है। अभिप्राय यह है कि चूंकि परमात्मा विश्वमूर्ति है, इस लिए वे वाच्य और वाचक दोनों के रूप में ठहरे हुए हैं।

*या पन्थानं दिशति शिशिराद्युत्तरं देवयानं
या वा कृष्णं पितृपथमथो दक्षिणं प्रावृडाद्यम् ।
ताभ्यामन्या विषुवदभिजिन्मध्यमा कृत्यशून्या
धन्या काचित्प्रकृतिपुरुषावन्तरा मेऽस्तु वृत्तिः ॥४६॥

या (प्राण-वृत्तिः) शिशिर-आदि-उत्तरं देव-यानं पन्थानं दिशति, अथवा या (अपान-वृत्तिः) कृष्णं प्रावृट्-आद्यं दक्षिणं पितृ-पथं (दिशति), ताभ्याम् अन्या विषुवत्-अभिजित् (रूपा) धन्या कृत्य-शून्या प्रकृति-पुरुषौ-अन्तरा काचित् मध्यमा वृत्तिः मे अस्तु ॥४६॥

जो (प्राण-वृत्ति) शिशिर आदि ऋतु (अर्थात् शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म) संबन्धी, देवयान नामक उत्तरायण मार्ग को दिखाती है और जो (अपान-वृत्ति) बरसात आदि ऋतु (अर्थात् बरसात, शरद् और हेमन्त) संबन्धी, कृष्ण और पितृयान नामक दक्षिणायन मार्ग को सूचित करती है, उन दोनों (वृत्तियों) से भिन्न जो 'विषुवत्' और 'अभिजित्' (कही जाने वाली), कर्तव्यों से रहित, प्रशंसनीय (या पुण्य-शीला) और (प्राण-अपान रूपी) प्रकृति-पुरुष के मध्य में ठहरी हुई (भी प्राण-अपान से मुक्त, उन्मना नामक) कोई अलौकिक मध्यमा वृत्ति है, वही मुझे (सदा के लिए) प्राप्त हो ॥४६॥

---

४६ * सताईसवें श्लोक की टिप्पणी से पाठकों को विदित ही हुआ होगा कि प्राण-वायु अर्थात् हृदय से निकलते हुए श्वास का सञ्चारण-काल छत्तीस अङ्गुलों का होता है और उसी भांति बाह्य-द्वादशान्त से भीतर को प्रवेश करते समय अपान-वायु का सञ्चारण-काल भी छत्तीस अङ्गुलों का होता है । इन्हीं छत्तीस अङ्गुलों के आधार पर 'तन्त्रालोक' आदि बड़े बड़े शास्त्रों में श्वास के एक ही सञ्चारण-काल में एक संपूर्ण वर्ष-संबन्धी काल का अनुभव करने के लिए उत्तरायण तथा दक्षिणायन

स्थित्वा किञ्चिन्मन इव पिबन्सेतुबन्धस्य मध्ये
प्राप्योपेयं ध्रुवपदमथो *व्यक्तमुद्दाल्य तालु ।
सत्यादूर्ध्वं किमपि परमं व्योम †सोमाग्निशून्यं
गच्छेयं त्वां सुरपितृगती चान्तरा ब्रह्मभूतः ॥५०॥

अहं किञ्चित् (संकल्प-संस्कारात्मकं) मनः पिबन् इव (सन्) सेतु-बन्धस्य मध्ये स्थित्वा, उपेयं ध्रुव-पदं प्राप्य, अथ तालु व्यक्तम् उद्दाल्य, सुर-पितृ-गती अन्तरा आ च ब्रह्म-भूतः (सन्) सत्यात् ऊर्ध्वं सोम-अग्नि-शून्यं किम्-अपि परमं व्योम त्वां गच्छेयम् ॥५०॥

मैं मन (के अवशिष्ट संकल्प-रूपी संस्कार) को लय करके (प्राण-अपान के मध्य में होने वाले) सेतुबन्ध (अर्थात् पुल) पर ठहरूं, उपेय ध्रुव पदवी को प्राप्त करके तथा तालु (में स्थित लम्बिका चतुष्पथ) को काट कर (अर्थात् खोल कर) देवयान तथा पितृयान के आन्तरिक आधारभूत ब्रह्म का साक्षात्कार प्राप्त करूँ और सत्य से भी उत्कृष्ट, (प्राण-अपान रूपी) सोम और अग्नि से शून्य तथा चिदाकाश में स्थित तेरे अलौकिक स्वरूप को प्राप्त करूँ ॥५०॥

का मार्ग दिखाया गया है। उत्तरायण के छः मासों में शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म इन तीन ऋतुओं का समावेश होता है और दक्षिणायन के शेष छः मासों में बरसात, शरद् तथा हेमन्त इन तीन ऋतुओं का समावेश होता है। इसके अतिरिक्त 'विषुवत्' तथा 'अभिजित्' आदि महापवित्र पर्वों का वर्णन किया गया है, जिनका अनुभव करने से योगी समस्त सांसारिक सुखदुःखादि द्वन्द्वों से छूट जाता है।

४६ †विषुवत्' और 'अभिजित्' नाम वाली मध्यमा वृत्ति को 'कृत्य-शून्य' अर्थात् कर्तव्यों से रहित इसलिए कहा गया है कि इस में प्राण-अपान की गति का अस्तित्व ही नहीं रहता।

सर्वात्मत्वं सवितुरिति यो वाङ्मनःकायबुद्धया
रागद्वेषोपशमसमतायोगमेवारुरुक्षुः।
धर्माधर्मग्रसनरशनामुक्तये युक्तियुक्तां
स *श्रीसाम्बः स्तुतिमिति रवेः सुप्रशान्तां चकार ॥५१॥

यः राग-द्वेष-उपशम-समता-योगं सवितुः सर्वात्मत्वम् आरुरुक्षुः (आसीत्), सः श्री-साम्बः धर्म-अधर्म-ग्रसन-रशना-मुक्तये, वाङ्-मनः-काय-बुद्धया युक्ति-युक्तां सुप्रशान्तां रवेः इति स्तुतिं चकार ॥५१॥

जो श्री साम्ब राग-द्वेष की शान्ति के द्वारा साम्य-योग से संपन्न सूर्य भगवान् की सर्वात्मकता को अवलम्बित करना चाहता था, उसी ने पुण्य-पाप के ग्रास रूपी पाश के बन्धन से मुक्त होने के लिए वाणी, मन, शरीर और बुद्धि से (चित् रूपी) सूर्य की (यह) युक्ति-युक्त तथा आत्म-विश्रांति देने वाली स्तुति रची ॥५१॥

---

५० * इस श्लोक में तालु के मध्य में स्थित लम्बिका-स्थान के वर्णन की ओर संकेत किया गया है। इस के विषय में अनुभव के आधार पर कुछ विचार प्रकट किये जाते हैं—

जिस समय निर्विकल्पता के कारण योगी के प्राणों की गति सूक्ष्म होती है, उसी समय तुरीय अवस्था को प्राप्त करके तालु में स्थित 'लम्बिका चतुष्पथ' का वह अनुभव करता है। 'लम्बिका' को 'चतुष्पथ' अर्थात् चुराहा इस लिए कहा जाता है कि तालु में चार द्वार होते हैं। यही चार द्वार चार मार्गों को दिखाते हैं। दो मार्गों से तो सामान्य प्राण-अपान की गति होती है, तीसरे मार्ग से मन्द-योगियों के प्राण-अपान सुषुम्णा-धाम में लय होकर मूलाधार में पहुंचते हैं और षट्-चक्रों का भेदन करके ब्रह्माण्ड को व्याप्त करते हैं, जहाँ वे योगी चिदानन्द का अनुभव करते हैं। इस के प्रत्युत चौथे मार्ग से उत्तम योगियों का प्राण-वायु सीधे ही ब्रह्माण्ड को पहुँचता है और उसे मूलाधार में से गुज़रने की आवश्यकता नहीं पड़ती। जिन चार मार्गों का उल्लेख ऊपर हुआ है, उन में से पहिले दो का संबन्ध संसार के साथ है और पिछले दो का संबन्ध मोक्ष के साथ है।

भक्तिश्रद्धाद्यखिलतरुणीवल्लभेनेदमुक्तं
श्रीसाम्बेन प्रकटगहनं स्तोत्रमध्यात्मगर्भम् ।
यः सावित्रं पठति नियतं स्वात्मवत्सर्वलोका-
न्पश्यन्सोऽन्ते व्रजति शुकवन्मण्डलं चण्डरश्मेः ॥५२॥

यः भक्ति-श्रद्धा-आदि-अखिल-तरुणी-वल्लभेन श्रीसाम्बेन उक्तम् इदं प्रकट-गहनम् अध्यात्म-गर्भं सावित्रं स्तोत्रं नियतं पठति, सः स्वात्मवत् सर्व-लोकान् पश्यन् अन्ते शुक-वत् चण्ड-रश्मेः मण्डलं व्रजति ॥५२॥

इस सूर्य-भगवान् के स्तोत्र को भक्ति और श्रद्धा आदि रूपिणी सभी नवयुवतियों के वल्लभ श्री साम्ब ने रचा है, यह (सामान्य शब्दार्थ के विचार से) स्पष्ट अर्थात् सरल (पर आध्यात्मिक अर्थ की दृष्टि से) कठिन तथा आध्यात्मिक रहस्य-पूर्ण अर्थों से भरा हुआ है। जो (मनुष्य) इस का नियम-पूर्वक पाठ करेगा, वह सारे संसार (के लोगों) को स्वात्म-रूप ही देखता हुआ अन्त में (भगवान् व्यास के पुत्र) शुकदेव की तरह (चित् रूपी) सूर्य के (आनन्द रूपी) मण्डल को प्राप्त होगा ॥५२॥

---

५० † यहाँ 'सोमाग्निशून्य' कहने का यह अभिप्राय है कि जिस समय योगी लम्बिका के द्वार से प्राण-वायु की ऊर्ध्व-शक्ति के द्वारा ब्रह्म-रंध्र को व्याप्त करता है, उस समय उस का प्राण-अपान लय हो जाता है। तदनन्तर ही योगी को अलौकिक स्थिति प्राप्त होती है। यहाँ प्राण-अपान से रहित इसी अलौकिक स्थिति की ओर 'सोम-अग्नि-शून्य' शब्द में संकेत है।

५१ ❀ इस श्लोक में 'साम्ब' के साथ जो 'श्री' शब्द का विशेषण रक्खा गया है, उस का अर्थ सांसारिक लक्ष्मी न हो कर मोक्ष-लक्ष्मी ही है।

इति परमरहस्यश्लोकपञ्चाशदेषा
तपननवनपुण्या सागमब्रह्मचर्चा ।
हरतु दुरितमस्मद्वर्णिताकर्णिता वो
दिशतु च शुभसिद्धिं मातृवद्भक्तिभाजाम् ॥५३॥

इति एषा तपन-नवन-पुण्या स-आगम-ब्रह्म-चर्चा, परम-रहस्य-श्लोक-पञ्चाशत्, अस्मद्-वर्णिता वः आकर्णिता भक्ति-भाजां दुरितं, मातृवत्* हरतु, शुभ-सिद्धिं च दिशतु ॥५३॥

मैं ने इन पचास रहस्यपूर्ण श्लोकों (के रूप में) यह स्तोत्र कहा है। यह (चित्स्वरूप) सूर्य भगवान् की स्तुति करने से पवित्र तथा आध्यात्मिक शास्त्रों और ब्रह्म की कथाओं से भरा हुआ है। आप जनों ने इस का श्रवण किया है। यह (आप) भक्तजनों के दुःखों (या पापों) को माता की भान्ति नष्ट करे और कल्याण रूपिणी श्रेष्ठ सिद्धि को प्रदान करे ॥५३॥

श्रीस्वात्मसंविदभिन्नरूपशिवार्पणमस्तु ।

समाप्तं चेदं साम्बपञ्चाशिकाशास्त्रम् ।

---

५३. * माता की भान्ति कहने का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार माता अपने बच्चों के दुःखों का निवारण करने और उन्हें शुभ सिद्धि प्राप्त कराने का सदा प्रयत्न करती है वैसे ही इस स्तोत्र का पाठ या श्रवण भी सभी भक्तजनों के दुःखों को दूर करे और उन्हें शुभ सिद्धि प्रदान करे।

लाला सोतीराम मैनेजर के अधिकार से मुफ़ीद आम प्रेस लाहौर में छपी और पंडित जिया लाल कौल प्रोफ़ेसर श्री प्रताप कॉलेज श्रीनगर ने प्रकाशित की।

पाविद्यान्तरः

ज्योति

THE KASHMIR SERIES OF TEXTS AND STUDIES

Nos. 76-77

BODHAPANCHADASHIKA

AND

PARAMARTHA-CHARCHA

WITH THE VIVARANA

BY

Pt. Hara Bhatta Shastri

EDITED BY

Pt. Jagaddhara Zadoo Shastri M. A., M. O. L.,

Under the authority of

THE JAMMU & KASHMIR GOVERNMENT.

Published by

The Research and Publication Department,

JAMMU AND KASHMIR GOVERNMENT,

Srinagar, Kashmir.

TheKashmir Series Of Texts & Studies.

No. LXXVI.

BODHAPANCHADASHIKA
AND
PARAMARTHA-CHARCHA

With the Vivarana
BY
Pt. Hara Bhatta Shastri

Edited by
Pandit Jagaddhar Zadoo, M.A., M.O.L., Shastri
Superintendent Research, and
Archaeological Department,
His Highness' Govt.
J & K. Srinagar.

Published under the authority of the Government of
His Highness Rajarajeshwara Maharajadhiraj
Sri Maharaja Harisinghji Bahadur
G.C.S.I., G.C.I.E., K.C.V.O; LL.D.
Maharaja of Jammu & Kashmir-

Printed at
The Krishna Printing Press.
Kothi Bagh Srinagar,
Kashmir.

A.D. 1947

Printed at the:

KRISHNA PRINTING PRESS SRINAGAR

Published by:

PANDIT JAGADDHAR ZADOO SHASTRI
M. A., M. O. L., H.H,

for the Research Department,

Jammu & Kashmir Government,

SRINAGAR.

कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः

ग्रन्थाङ्कः-७६,७७,

बोधपञ्चदशिका ।
परमार्थचर्चा ।

पं० हरभट्टशास्त्रिकृतविवरणोपेते ।

श्रीराजराजेश्वर—महाराजाधिराज—कश्मीरनरेन्द्र

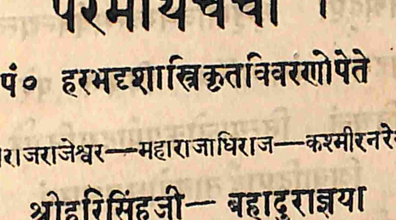
श्रीहरिसिंहजी— बहादुराज्ञया

रिसर्चकार्यालयाध्यक्ष-पण्डितजगद्धरजाड्डू-शास्त्रिणा

कार्यालयस्थेतरसंपादकपण्डितसहायेन

संशोधनादिसंस्करणोत्तरं संपाद्य

श्रीनगरे 'कृष्णा प्रेस' मुद्रणालये मुद्रापयित्वा प्रकाश्यमुपनीते ।



कश्मीर-श्रीनगर ।

ईस्वी १९४७

संवत २००४

श्रीसोमानन्दनाथप्रभृतिगुरुवरादिष्टसन्नीतिमार्गो
लब्ध्वा तत्रैव सम्यक्पटिमानि घटनामीश्वराद्वैतवादः ।
कश्मीरेभ्यः प्रसृत्य प्रकटपरिमलो रञ्जयन् सर्वदेश्यान्—
देशेऽन्यस्मिन्नदृष्टो घुसृणविसरवत्सर्ववन्द्यत्वमाप ॥१॥

तरत सहसा संसाराब्धिं विश्वत्त परे पदे
पदमविचलं नित्यालोकप्रमोदसुनिर्भरे ।
विमृशत शिवादिष्टाद्वैतावबोधसुधारसं
प्रसभविलसत्सद्युक्त्यान्तः समुत्प्लवदायिनम् ॥२॥



श्रीबोधपञ्चदशिका

महामाहेश्वराचार्याभिनवगुप्तपादविरचिता ।

श्रीगणेशाय नमः ॥ श्रीशारदाम्बायै नमः ॥ इह खलु शिवाद्वयशासनाम्भोधिपारदृश्वा श्रीमान् महामाहेश्वरोऽभिनवगुप्ताख्य आचार्यवरोऽतितीक्ष्णप्रतिभाप्रसादातिशयतोऽवगाहनीयेषु शैवागमेषु, केषाञ्चिदनुग्राह्याणां शिष्याणां मतिसौकुमार्यं पर्यालोच्यानायासमेव त्रिकशास्त्रसंप्रदायजिज्ञासूंस्तानुपदिदिक्षुः पञ्चदशभिः श्लोकैस्तत्प्रतिबोधनाय शास्त्रार्थमुपनिबध्नाति । तत्रादौ नित्योदितसंवित्प्रकाशस्यावभासने प्रमाणव्यापाराभाव इति प्रतिपादयन्नाह—

अनस्तमितभारूपस्तेजसां तमसामपि ।
य एकोऽन्तर्यदन्तश्च तेजांसि च तमांसि च ॥१॥

स्वतन्त्रशिवप्रकाशो हि सर्वाभासकः सदोदितो न स्वं प्रकाशयितुं प्रकाशान्तरमपेक्षते स्वप्रकाशत्वात्, तस्याऽस्तोदितत्वाभावात्, "सकृद्विभातोऽयमात्मा" इति, "नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्" इति श्रुतेः, । (बृ० आ० ४ । ३ । २३) य एको-द्वितीयोऽर्कादीनां तेजसां प्रमाणादिप्रकाशानां च तथा, मदमूर्छाद्यवस्थारूपाणां तमसां बाह्यप्रकाशानामन्तरवस्थितत्वात् तदनुप्राणको बहिरपि तस्यैव संवित्प्रकाशस्य सत्त्वात्तदन्तरेव

तान्यर्कादीनां तेजस्तमांसि स्वसत्तामुपयान्ति । नहि भारूपं संवित्प्रकाशं विना किमपि घटादि भावजातं प्रकाशमानतामेति, ते च प्रकाशा अस्तं यान्ति उदयन्ति च । प्रकाशः पुनरस्तोदयानाकलितः प्रमाणानामपि जीवितरूपं मूलप्रमाणं तमर्कादिप्रकाशः कश्चिदवभासयितुं न शक्नोति तस्य प्रकाश्यत्वात् स्वाभासनेऽप्यसमर्थस्य कथं परं भासयितुं प्रागल्भ्यं, प्रत्युत स्वाभासनेऽपि संवित्प्रकाशमेवापेक्षते स इति स्वप्रकाशत्वादर्कादीनां स एव भासकः । यदुक्तम् -

'यत्र सूर्यो नवा सोमो नाग्निर्भासयतेऽपि च ॥

नचार्कसोमवह्नीनां तत्प्रकाशाद्विना महः ॥

किमप्यस्ति निजं किन्तु संविदित्थं प्रकाशते'। (तं० ३ । ११५)

इति । तथा गीतासु-

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः ।

यद्गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥' (भ० गी० ११। ५६)

अबोधोऽपि न बोध्यमानो बोधाद्भिद्यतेऽन्यथा तत्सत्त्वानुपपत्तेरिति स्थित्या खपुष्पादेरप्यसतो व्यापकत्वादपरिच्छिन्नः संवित्प्र काशो विश्वत्र निर्निरोधावरणं तत्तद्वैचित्र्यात्मना विजृम्भते इत्येतेन किमपि प्रमाणादि, तत्र सर्वजीवितभूनोपयुज्यते इत्युक्तं भवति ॥ १ ॥

एवं संवित्प्रकाशः प्रकाश्यं प्रमेयं प्रकाशयतीति प्रकाशप्रकाशनीयभावे सिद्धे कथं शिवाद्वयभाव इत्याशंक्याह-

स एव सर्वभूतानां स्वभावः परमेश्वरः ।
भावजातं हि तस्यैव शक्तिरीश्वरतामयी ॥२॥

स एव परमेश्वरः-स्वतन्त्रचिद्घनतापरमार्थः सर्वभूतानां-समग्राणां शिवादिसकलान्तानां प्रमातृवर्गाणां सकलानां प्रमेयवर्गाणां च उभयेषां ग्राह्यग्राहकरूपाणां स्फुरत्तात्मानुत्तरप्रकाशवपुः स्वभावोऽन्यथा

"यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभः कुसुमायते । (तं० ८।३)

इतिस्थित्या संवित्प्रकाशाद्भिन्नस्याऽसत्त्वान्न किमपि प्रकाशेत । एतदेव हि पारमेश्वर्यमनन्यापेक्षं स्वातन्त्र्यं, यत्तत्तदनियतविश्ववैचित्र्येण स्वेच्छयैव स्वात्मभित्तौ समुन्मीलनं, तत्रापि नियताकारधारित्वे ऐश्वर्यं विघटेत । यदुक्तमाचार्यैरेव

'अस्थास्यदेकरूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद्घटादिवत् ॥' (तं० ३।१००)

केवलं वेद्यवेदकत्वरूपस्य व्यवहारस्य मायाभूमौ कल्पितप्रमात्रपेक्षया तात्कालिकी व्यवह्रियमाणता । यदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्

'केवलं भिन्नसंवेद्यदेशकालानुरोधतः ।
ज्ञानस्मृत्यवसायादिव्यवहारोऽनुभूयते' ॥ (ई० प्र० १।५।२१)

इति । वस्तुतस्तु सदैवाभिन्नप्रकाशमयोऽनुत्तरानाख्येयसंवित्स्वभावः परमेश्वर एव स्वातमोच्छलत्तया तत्तद्विश्वभावपरिस्फुरणेन चकास्तीत्यर्थः । एतदेव हेतुद्वारा स्पष्टं निरूपयन्नाह भावजातमिति, तस्यैव परमेश्वरस्य हि यस्मादीश्वरतामयी शक्तिरैश्वर्यरूपं स्वातन्त्र्यमेव वाच्यवाचकात्मविश्वपदार्थमयं भावजातं भवति, यदुक्तं मङ्गलायाम्

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।'

इतिनीत्या स्वातन्त्र्यमेव जगदात्मना प्रथते इत्यर्थः । यदुक्तम्

'बोधो हि बोधरूपत्वादन्तर्नानाकृतीः स्थिताः ।
बहिराभासयत्येव द्राक् सामान्यविशेषतः ॥' (तं० १।२५७)

इति । तथेश्वरप्रत्यभिज्ञायाम्

'चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद्बहिः ।
योगीव निरुपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥ ई० प्र० (१।५।७)

इति । अतश्च स्वैश्वर्यनिर्भरः शिव एवैकस्तथा तथा प्रस्फुरति इत्येकैव संवित्परमार्थसतीति भावः ॥२॥

नन्वेवं परमेश्वरस्य शक्तयो विश्वमिति शक्तिमद्वतोः परस्परं धर्मधर्मिभावेन भेदात् कथमेकशिवात्मभाव इत्याशंक्याह

शक्तिश्च शक्तिमद्रूपाद् व्यतिरेकं न वाञ्छति ।
तादात्म्यमनयोर्नित्यं वह्निदाहिकयोरिव ॥३॥

यथाग्नेस्तच्छक्तेश्च दाहकत्वपाचकत्वप्रकाशकत्वादिविलक्षणाया अनयोरयुतसिद्धत्वात्सातत्येन समवेतयोरैकात्म्यमेव । न कदाचिद् दाहिकादिस्तच्छक्तिः स्वाश्रयं वह्निमनादृत्य स्वरूपसत्तां लभते, 'यद्येन विना न तिष्ठेत् तत्तस्मान्न व्यतिरिच्यते' इति न्यायादभिन्नसारूप्यात् तादात्म्यमेवावलम्बते । यदुक्तम्

'मातृक्लृप्ते हि भावस्य तत्र तत्र वपुष्यलम् ।
को भेदो वस्तुतो वह्नेर्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ॥' (तं० १।७०)

इति । एवं विश्वभाववैचित्र्यप्रथामयी स्वातन्त्र्यशक्तिः शक्तिमल्लक्षणात् शिवस्वभावान्न व्यतिरेकमिच्छेत् । तत्सत्त्वे हि तस्याः स्वरूपविप्रलोपात् स्वरूपविनाशे कार्यसंपादनशक्तेरनुपपद्यमानत्वाद्विश्वमिदं न प्रस्फुरेत्, प्रस्फुरति च विश्वं, तस्माच्छिवप्रकाशाभिन्ना स्वातन्त्र्यशक्तिरेव वेद्यवेदकरूपेण विस्फुरति, इत्यमुनैवाशयेन शिवसूत्रेषु 'चैतन्यमात्मा' इति भावप्राधान्येन निर्देशः । नापि क्रियाभेदात् क्रियावान् भिद्यते तास्वनवरतं प्रवर्तमानास्वपि कर्तुरेकत्वानपायात् । एवं शक्तीनां बहुत्वेऽपि शक्तिमानेकत्वं न व्यभिचरति, तद्बहुत्वस्यापि एकस्यामेव स्वातन्त्र्यशक्तावन्तर्भावान्मुख्या सैव एका शक्तिः शक्तिमदव्यतिरेकिणी सर्वत्राभिषिच्यते । यदुक्तम्

'तस्मात्संवित्त्वमेवैतत्स्वातन्त्र्यं यत्तदप्यलम् ।
विविच्यमानं बह्वीषु पर्यवस्यति शक्तिषु ॥' (तं० १।६१)

इति । तथा

'बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छक्त्यैवाऽवियुक्तता ।' (तं० १।६८)

इति । तथा

'एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैव युक्त इत्याञ्जसो विधिः ॥' (तं० १।६७)

इति । एतदेव हृदयं विमर्शः सार इत्यादिशब्दैः परिभाष्यते, इदमेव जडप्रकाशाद्वैलक्षण्याधायि । यदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'स्वभावमवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥' (ई० प्र० १।५।१०)

इति । एवं मायाध्वनि दुरपह्नवत्वाद्भासमानस्यापि भेदस्य आभाससारत्वात् न स्वतन्त्रशिवाद्वयभावखण्डना इति ॥ ३ ॥

ननु परमेश्वरस्य तत्तद्विश्ववैचित्र्यप्रथने किमुद्दिश्य प्रवृत्तिः किंच निमित्तं इत्याशंक्याह—

स एव भैरवो देवो जगद्भरणलक्षणः ।
स्वात्मादर्शे समग्रं हि यच्छक्त्या प्रतिबिम्बितम् ॥ ४ ॥

स एव शक्तिमान् स्वतन्त्रोऽनुत्तरभट्टारकः स्वस्वातन्त्र्येणोद्भासितस्य विश्वस्य स्वात्मभित्तिसंलग्नतया धारणपोषणस्वभावत्वाद् भैरवो विश्वभरितस्वरूपः

'भ्रियात्सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सन्ततोच्चारणाच्छिवः ॥' (वि० भै० १३०)

इति विज्ञानभैरवोक्तनीत्या, पूर्णाहन्ताचमत्कारनिर्भरभैरवस्वरूपे विश्रमणाद्वा विश्वेनापि धार्यमाणः पोष्यमाणश्च, सदैव विश्वमयत्वेन प्रस्फुरणात्, इत्युक्तं जगद्भरणलक्षण इति । भैरवसंविदो हि व्यतिरिच्यमानस्यान्यस्याचेत्यमानत्वात् सर्वत्र पारिपूर्ण्यं विश्वभरितस्वभावत्वात् । तस्यैव स्वैश्वर्यघनतामहिम्ना यच्छिवादि-

भूम्यन्तेन तत्त्वभूतभावाद्यात्मना विजृम्भणं तदेव स्वात्मगोपनात्मक्रीडारसिक-
स्य देवत्वं, विस्तरतस्तु भैरवदेवशब्दयोर्विवरणं श्रीतन्त्रालोके द्रष्टव्यम् । एतदेव
विश्वसृष्ट्यादौ परमेश्वरस्य निमित्तं न पुनः प्राणिनां कर्मादि तत्सापेक्षत्वे हि स्वा-
तन्त्र्यं (न पुनः प्राणिनां कर्मादि, तत्सापेक्षत्वे हि स्वातन्त्र्यं) विघटेत्,
स्वातन्त्र्यमेवानन्दघनत्वं तदेव घनताऽतिशयप्राप्ता समुच्छलत्स्वभावत्वेन
तत्तद्विश्ववैचित्र्येण स्फुरति द्योतते सर्वोत्कर्षतयाप्यास्ते । यदुक्तम -

'तस्य स्वतन्त्रभावो हि किं किं यन्न विचिन्तयेत् ।

तदुक्तं त्रिशिरःशास्त्रे स बुद्ध इति वेत्ति यः ॥

इति । यच्छक्त्या पराख्यया स्वात्मैव स्वच्छत्वादिना प्रतिबिम्बसहत्वाद् दर्पण-
स्तस्मिन् समग्रं प्रमातृप्रमेयात्मभावजातमुपादानादिसामग्रीनिरपेक्षत्वेन प्रति-
बिम्बितं, दर्पणो हि बिम्बसापेक्षः, स्वान्तस्तत्तद्रचनावैचित्र्यं धत्ते, एषा पराशक्ति-
स्तन्निरपेक्षमेव विश्ववैचित्र्यमाभासयतीत्येतदजाड्यस्य विलसितम् । यदाह भट्ट-
उत्पलदेवः-

'निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते ।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलाश्लाघ्याय शूलिने ॥' (२२।६)

इति । श्रीशक्तिसूत्रेष्वपि -

स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति ।' (श० सू० २)

इति । श्रीमानाचार्योऽपि-

'अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्वद्विचित्ररचना मकुरान्तराले ।
बोधः पुनर्निजविमर्शनसारयोगा-
द्विश्वं परामृशति नो मकुरस्तथा तु ॥', (तं० सा० ३ आ०)

इति । अणुप्रत्यभिज्ञायामपि-

नाथ ! त्वया विना बिम्बं स्वच्छे स्वात्मनि दर्शितम् ।
प्रसेनादर्पणेनेव प्रभावाद्भावमण्डलम् ॥ ४ ॥

इति । एवं वैश्वरूप्योल्लासे भेदामर्शनात् कथं भैरवस्याद्वैततत्त्वं स्यादित्याशंक्याह

तस्यैवैषा परा देवी स्वरूपामर्शनोत्सुका ।
पूर्णत्वं सर्वभावेषु यस्या नाल्पं न चाधिकम् ॥ ५ ॥

तस्यैव भैरवात्मनः संवित्प्रकाशस्य एषा वैश्वरूप्येणोल्लसन्ती स्वातन्त्र्याख्या शक्तिर्द्योतनादिक्रीडाशीलत्वाद् देवी स्वात्मनि प्रकाशाभेदेन विश्वस्यामर्शनावभासाभ्यां परा पूर्णतया स्फुरन्ती, तत्रैव दर्पणनगरादिवद्भेदाभेदतया विश्वस्य परामर्शनादत्यन्तं भेदेनापि मायाप्रमातुरुचितेन विमर्शनात् परा परादिसंज्ञामवाप्तापि स्वरूपस्यामर्शने स्वातन्त्र्यात् तत्तद्भावजातं स्वात्ममयमेवेति विश्वाहंभावचमत्कृतौ उत्सुका स्वात्मानमेव तथातथा परामृष्टुमौत्सुक्येन प्रवृत्ता, एवं त्रिधाप्यामर्शने व्यतिरिक्तभावौन्मुख्यविरहात्पारिपूर्ण्यादनपेता स्वस्वातन्त्र्येण स्वमेव स्वात्मनामृशतीति । यदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्

'स्वातन्त्र्यामुक्तमात्मानं स्वातन्त्र्यादद्वयात्मनः ।
प्रभुरीशादिसङ्कल्पैर्निर्माय व्यवहारयेत् ॥' (ई० प्र० १।५।१६)

इति स्थित्या द्वैतोल्लासेऽपि नाद्वैतहानिरिति । अत एव यस्याः सर्वभावेषु साकल्येन विश्ववर्तिषु नीलसुखादिषु पदार्थेषु पूर्णत्वमखण्डं पारिपूर्ण्यं, तच्च नाल्पं न चाधिकं भावानामुदयप्रलययोः संविदोः न्यूनाधिक्याभावात् रुद्रक्षेत्रज्ञादिप्रमातृष्वपि चितो न्यूनाधिकतया विशेषाभावात्पूर्णत्वं न हीयते । यदुक्तं ब्रह्मदर्शने

'यैव चिद्गगनाभोगभूषणे व्योम्नि भास्करे ।
धराविवरकोषस्थे सैव चित्कीटकोदरे ॥'

इति । यथा प्रदेशाकाशानां महाकाशादनतिरिक्ता वृत्तिरेवं नीलादिप्रकाशानां ब्रह्मणो बृहत्त्वेन बृंहकतया च तदनधिकवृत्तित्वमिति ॥ ५ ॥

अत एवाभिन्नानि कृत्यानि करोति परमेश्वरो न भेदमयानीत्याह

एष देवोऽनया देव्या नित्यं क्रीडारसोत्सुकः ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारान् विधत्ते युगपद्विभुः ॥६॥

एष प्रत्यभिज्ञापदमारूढो द्योतनादिलक्षणश्चिद्देवोऽनयोक्तलक्षणया परावाक्रूपया विश्वोल्लासनादिक्रीडाशीलत्वाद् देव्या देवसम्बन्धिन्या वा तत्समवायधर्मिण्या सह नित्यमविरतं तत्तद्भूमिकाविजृम्भणेऽपि अव्युच्छिन्नत्वात् सदोदितायां क्रीडायां पञ्चकृत्यात्मिकायां यो रसोऽभिलाषस्तत्रोत्सुको निरपेक्षं प्रसह्य तत्र प्रवर्तमानः । यदुक्तम्

'सदा सृष्टिविनोदाय सदा स्थितिसुखासिने ।
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥,(उ०स्तो०२२।६)

इति । तथा

'प्रतिक्षणमविश्रान्तस्त्रैलोक्यं कल्पनाशतैः ।
कल्पयन्नपि कोऽप्येको निर्विकल्पो जयत्यजः ॥(स्त०चि०११२)

इति । तच्च क्रीडनं विचित्रम् तथाहि पराभूमौ प्रकाशघनतामयानां भावानामविच्छिन्नावभासादिना सदोदितमेव पञ्चकृत्यविधायित्वं, पश्यन्त्यां चोद्भविष्यतामिदन्तावभासानामहन्तारसोद्रेकतया तत्रापि स्वाङ्गकल्पत्वेन भेदासूत्रणां विजृम्भयितस्तद्भूमिकामापन्नस्य तादृशमेव कृत्यकारित्वम्, मध्यायां पुनरस्फुटतयाभासमानानां भावानामहन्तायामेवेदन्ताप्राधान्योद्रेचणात् तादृशमेवास्फुटकल्पं कृत्यम् संकोचकाष्ठायां तु मायीयप्रमातृतायामपि सर्वथा स्वात्मविस्मृतौ तादृशमेव भेदैकसारं कृत्यम्, तत्रापि प्रमातृप्रकाशमन्तरेण नीलादीना-

मप्रतिष्ठत्वात् तत्कृत्यं प्रकाशमयमेव परिज्ञाय च यत्पुनः स्वरूपलाभप्रत्यापत्त्याऽणुभावात्स्वात्मनो विमुक्तिरित्यागमेषु परिगीयते इति, अत एवाह विचित्रानिति । नच ब्रह्मादिवन्नियतशक्त्या संकुचितत्वान्नियतमेव तदन्यतरत्कर्तु शक्नुयादित्यभिप्रेत्याह— सृष्टिसंहारानिति बहुवचनं कृत्यान्तराणामुपलक्षणार्थम् । तेन सृष्टिस्थितिसंहारपिधानानुग्रहान् विधत्ते करोति । कालादिकृतोऽत्र न कश्चिन्नियम इत्याह— युगपदिति— अक्रमेण, अकालकलिते परमेश्वरे तत्क्रमाभावात्, विभुरिति देशाद्यवच्छेदशून्यत्वे हेतुः अत एवाक्रमेणैव विचित्रास्वेतास्ववस्थासु विचित्राणां सृष्टिसंहाराणां कर्तृत्वमविच्छिन्नम् । अथ च कल्पितप्रमातर्यपि सदैव सर्गादिविनोदासक्तः परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्येन करणेश्वरीचक्रं समुल्लास्य पर्यान्दोलनक्रोडया निखिलं प्रमेयजातं सृष्टिकाल्याद्युपारोहणेन प्रोल्लासयन् परिपाट्या क्रमेण वा कालसङ्कर्षणीधाम्नि विश्रम्य स्वात्मविश्रान्तिरूपपूर्णाहंपरामर्शचमत्कारधामासादयति एवमेव भूयोभूयः क्रीडारसौत्सुक्येन विचित्रसृष्ट्यादिकारित्वं परिशीलयतीति सहृदयसंवेद्यमेतत्तन्मुखादवगन्तव्यम् । गृहीतपशुभूमिकस्य शिवस्य एतदेवाभिज्ञानं यदाह श्रीक्षेमराजः—'तथापि तद्वत्पञ्चकृत्यानि करोति' इति । अतः सर्वमिदं स्वातन्त्र्यस्यैव विलसितमिति ॥६॥

तदाह-

अतिदुर्घटकारित्वमस्यानुत्तरमेव यत् ।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता ॥७॥

एवमस्य स्वातन्त्र्यशालिनः परमेश्वरस्य यदेवाभिन्नस्य प्रकाशैक्येनावस्थितस्य ग्राह्यग्राहकात्मनो विश्वस्येदन्ताभावेनाहन्ताधिक्येन सदाशिवे, ईषत्स्फुटीभावेनेश्वरे समधृततुलापुटन्यायेन शुद्धविद्यायां, भेदकप्राणेऽशुद्धाध्वनि अत्यन्तभेदेन स्वस्माद्बहिरवभासनं, यदपि भासितस्यापि पुनरभेदेन स्वात्मनि प्रकाशघने निमज्जनं नाम । तदतिदुर्घटकारित्वमेतदेव स्वतन्त्रत्वं स्वाच्छन्द्यमुत्तरमनाश्रितादिभ्योऽपि अत्युत्कृष्टमतिदुर्घटकारित्वमेतदेव स्वतन्त्रत्वं स्वाच्छन्द्य- तन्मुखप्रेक्षित्वात् तदाक्षेप्या- सर्वशक्तिक्रोडीकारि तत्रैव शक्त्यन्तराण्यन्तर्भूय

ण्येव, अत एव स्वातन्त्र्यमेव मुख्यमैश्वर्यं येनानुत्तरानन्दाद्युदयक्रमेण विसर्गपर्यन्तेन यामलप्रसरेण वा मातृकामालिनीभावमेत्य तत्तद्विचित्रवाच्यवाचकात्मना वैश्वरूप्येण प्रस्फुरणम्। यदुक्तम्-

'तस्मादनुत्तरो देवः स्वाच्छन्द्यानुत्तरत्वतः।
विसर्गशक्तियुक्तत्वात् संपन्नो विश्वरूपकः॥'

इति। अस्वतन्त्रस्य हि अनीश्वरतया विश्वमुद्भावयितुमसामर्थ्यात्, विश्वविसर्गे तथा पञ्चविधकृत्यकारित्वे च स्वातन्त्र्यस्यैव मुख्यनिमित्तत्वात्। यदुक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्-

'चितिः प्रत्यवमर्शात्मा परावाक्स्वरसोदिता।
स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमात्मनः॥
सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः॥, ई० प्र० (१।५।१३)

इति। ऐश्वर्यमप्यस्यापरिच्छिन्नमेव, परिच्छेदे हि ब्रह्मविष्ण्वादिवन्नियतैकतरकार्ये व्याप्रियमाणत्वादनीश्वरत्वमेव, एषैव बोधरूपता जडप्रकाशाद्वैलक्षण्यापादकत्वाद्विमर्शमयं बोधरूपत्वम्। यदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्-

'आत्मात एव चैतन्यं चित्क्रिया चितिकर्तृता।
तात्पर्येणोदितस्तेन जडात्स हि विलक्षणः॥, ई० प्र० (१।५।१२)

इति। अन्यथा स्वातन्त्र्यविकलस्य बोधस्य विज्ञानाकलवदबोधरूपत्वान्मलाक्रान्तत्वं दुर्वारं स्यादिति॥७॥

ननु किं नाम बोधरूपत्वं यदबोधाद्विलक्षणमित्याशंक्य तल्लक्षणं निरूपयन्नाह-

परिच्छिन्नप्रकाशत्वं जडस्य किल लक्षणम्।
जडाद्विलक्षणो बोधो यतो न परिमीयते॥८॥

जडप्रकाशस्य स्वप्रकाशस्वभावत्वाभावात् स्वात्मानमप्यवभासयितुं सामर्थ्यं नास्ति

का कथा परस्य प्रकाशने, तत्रानेलमूकत्वाद्बोधस्वभावाधिरोहणानुपपत्तिः । जडो हि किल देशकालाकारविशेषितो बोधेन परिच्छिद्यते प्रतियोगिव्यवच्छेदेन अघटाद्व्यवच्छिन्नो घट इवातद्व्यपोहनपूर्वतदध्यवसायजीविततामाश्रयतीति इत्येतज्जडस्य लक्षणम् तच्च प्रमात्राश्रयं ममेदं भातीति जीवन्तं प्रमातारमाश्रित्यैव घटादयः परिस्फुरन्ति नैव तेषां निजं किमपि प्रकाशमानत्वम् कल्पितस्यापि प्रमातुर्जडैकशरणत्वात् तत्पक्षपातित्वम् तस्मात्संविन्मयप्रमात्रैव परिमीयमानस्य जडप्रकाशस्य प्रतिष्ठानम् तद्वैलक्षण्येन हि बोधो देशादिविशेषानाकलितत्वेन परिच्छेदपदवीमनारूढो नैव परिमीयते । देशादेः परिच्छेदकस्यापि प्रकाशस्वभावाद् व्यतिरिक्ताव्यतिरिक्तविकल्पोपहतत्वात् । नापि बोधव्यतिरिक्तस्य प्रमात्रन्तरस्यासत्वात् तेन क्रियमाणस्य अतद्व्यपोहनस्याभावेनाहमात्मिकाबोधविश्रान्तिर्विकल्पास्पदमियादिति प्रकाशविश्रान्तिरसाकेकूतिर्कीत्यादि अत्र जडाद्वैलक्षण्यं बोध्यम् । यदुक्तम् -

'प्रकाशस्यात्मविश्रान्तिरहम्भावो हि कीर्तितः ।
उक्ता सैव च विश्रान्तिः सर्वापेक्षानिरोधतः ॥
स्वातन्त्र्यमथ कर्तृत्वं मुख्यमोश्वरतापि च (अज०प्र०सि०२३)

इति । एतदेव बोधस्य स्वप्रकाशत्वं यत् स्वयं भासमानः परमपि भासयन् स्वस्वातन्त्र्यात्म्यमपाचमत्करोति परमपि स्वाहन्तासंरम्भात्प्रकाशयतीति ॥८॥

स्वातन्त्र्यावभासिताः सृष्ट्यादयोऽपि न भिन्नविषया इत्याह -

एवमस्य स्वतन्त्रस्य निजशक्त्युपभेदिनः ।
स्वात्मगाः सृष्टिसंहाराः स्वरूपत्वेन संस्थिताः॥९॥

एवमयं परमेश्वरः स्वतन्त्रो निजया स्वाभिन्नया स्वसमवेतत्वात् शक्त्या स्वातन्त्र्येण विश्वसिसृक्षात्मकेन भेदमुपगच्छति अनाश्रितशिवादारभ्य सकलान्तप्रमातृवर्गपर्यन्तं पाञ्चदश्यादिभेदेन तदनुरूपप्रमेयभेदेनापि जडाजडात्मावभेदमापद्यते, ।

अर्थाच्छक्तिरेव तत्तद्भावमण्डलरूपेणोल्लसन्ती विविधवाच्यवाचकतां भजते शक्तिमान्पुनः सर्वस्य स्वातन्त्र्यसारत्वादेक एवाच्युतप्राच्यस्वरूपः केवलं परस्परलोलीभावं प्राप्तानां शक्तीनां भासनोपरञ्जनादिभिरापाततो भेदोपभेदित्वमिव याति, न पुनस्तस्य सङ्कोचावभासनमात्रं विनान्यत्परिणामविवर्तादि संभवितुमर्हति। परिणामविवर्तादेस्तु रूपान्तरतदन्यथाभावत्वे बोधस्वभावं प्रति तद्विरुद्धाप्रकाशत्वं प्रसज्यते। तत्प्रसक्तावपि विश्वस्यान्धतमसप्रख्यत्वात् व्यवहारविप्रलोपः स्यादिति। तत्रेयति भेदपरिग्रहे परमेश्वरस्य पूर्णाहन्ताचमत्कारसारविश्वमयत्वाद्विश्वगताः सृष्टिसंहाराः स्वात्मगाः स्वाभिन्नाः, पञ्चविधकृत्यानामुपलक्षणमेतत् शिवपदे प्रकाशैक्येन स्थितत्वात्स्वरूपत्वे न स्वोङ्गकल्पताय। संस्थिताः। अर्वाक्पदेऽपि श्रीकण्ठाघोरभट्टारकादिभिः क्रियमाणस्य सर्गादेः संवित्प्रकाशादवहिरवस्थितत्वात् तन्मयत्वमेवेति तत्रापि न मनागपि विभेदकलनाया विषयीभवन्तीति, यदुक्तम् —

'... ... ... प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः।,

इति ॥६॥

नन्वित्थं सर्वतः स्वस्वातन्त्र्यस्य विलसितत्वे कथमणूनां बन्धो भवतीत्याशंक्य युग्मेनाह —

तेषु वैचित्र्यमत्यन्तमूर्ध्वाधस्तिर्यगेव यत्।
भुवनानि तदंशाश्च सुखदुःखमतिश्च या ॥१०॥
यदेतस्यापरिज्ञानं तत्स्वातन्त्र्यं हि वर्णितम्।
स एव खलु संसारो मूढानां यो विभीषकः ॥११॥

तेषु सर्गादिषु पञ्चविधकृत्येषु अपरादिशक्त्युल्लासाद्दर्पणनगरादिवद्भेदाभेदपरामर्शतो भेदैकमयत्वपरामर्शनाच्चात्यन्तं यद्वैचित्र्यं यद्वा क्रमाक्रमाभ्यां विश्वत्र यत्सर्गादिवैचित्र्यं, क्रमो हि नियत्यधीनः परमेश्वरस्य स्वतन्त्रत्वान्नियतिशक्तिमुखप्रेक्षित्वाभावान्न कापि परिपाटी अपेक्ष्यते! अत एव स स्वेच्छयैव क्रमेणाक्रमेण वा करोतीत्यर्थः। यच्चैवं ऊर्ध्वाधस्तिर्यक्तत्तत्सन्नि-

वेशविशिष्टानि सर्गादिगोचराणि भुवनानि कालाग्न्यादेरनाश्रितान्तमष्टादशाधिकशतसंख्यानि संक्षेपेणागमेष्वाम्नातानि । यदुक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे-

'एवं तु सर्वतत्त्वेषु शतमष्टादशोत्तरम् ।
भुवनानां परिज्ञेयं संक्षेपान्नतु विस्तरात् ॥

इति विस्तरेण तु भुवनानामानन्त्यमेव यच्च तदंशा भुवनानामनेके पुरादिविभागाः, तथा तत्तद्भुवनाद्यधिष्ठातृणामुपासनाभिः तत्तत्सालोक्याद्यवाप्तेर्नियतकालं तदीयैश्वर्योपभोगपरिसमाप्तौ तदूर्ध्वभुवनेशपदप्राप्तिः तत्रापि तदैश्वर्यादिसुखानुभवः आगमोक्तशुभाचरणाद्यसेवनाच्चाधोधो निरयपाते अनैश्वर्याद्याक्रान्तेर्दुर्गतिक्लेशानुभवः, इत्थं च या तेषु सुखदुःखमतिर्येन शुभाशुभकर्मसेवनात् कर्मानुरूपं तत्र तत्र संसरणम् । संवित्प्रकाश एव स्वस्वातन्त्र्यमाहात्म्यातिशयान्मूर्तिवैचित्र्येण देशाध्वानमुन्मीलयति, स एव भुवनतत्त्वकलात्मवाच्यं, तत्र मुख्यं वाच्यं भुवनानि तत्त्वकलयोस्तदन्तर्भावात् । भुवनादीन्यपि परमेश्वरान्न व्यतिरिक्तानि, तथात्वेऽप्रकाश्यमानत्वात्तत्सत्त्वानुपत्तिः तस्मात्संविदेव तथा तथा बहिः प्रस्फुरतीति । यदुक्तम्

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।

इति । तथा—

'आश्यानं चिद्रसस्यैवं साकारत्वमुपागतम् ।
जगद्रूपतया वन्दे प्रत्यक्षं भैरवं वपुः ॥'

इति । तथा—

'अध्वा समस्त एवायं चिन्मात्रे संप्रतिष्ठितः ।
यत्तत्र नहि विश्रान्तं तन्नभःकुसुमायते ॥ (तं० ८।३)

इति च ॥११॥

यदेतस्य भुवनतदंशादेस्तत्त्वाद्यध्वान्तराणामुपलक्षणीभूतस्यापरिज्ञानं स्वातन्त्र्यमेव भुवनाद्यात्मना प्रसरति एतदित्येतस्याप्रत्यभिज्ञानं तद्विपरीतदुःखाद्याकुलितबन्धपरिदृष्टिः तद्धि स्वातन्त्र्यमतिदुर्घटकारित्वसंपादनसामर्थ्यं वर्णितम् यदुक्तम् —

'अनावृते स्वरूपेऽपि यदात्माच्छादनं विभोः ।
सैव माया यतो भेद एतावान्विश्ववृत्तिकः ॥' [तं ४ । ११]

तथा च परमार्थसारे—

'परमं यत्स्वातन्त्र्यं दुर्घटसंपादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥'

इति । स एव खलु जडानां मायामोहितानां संसारो यो विभीषको रज्जुभुजङ्गभ्रमवन्मरणादित्रासजननः । अयं भावः, यथा भ्रान्त्या विकल्पकल्पितेऽर्थशून्ये वस्तुनि रौद्राद्याकृतिसंभावनया भीषणीयमाकारविशेषं समुल्लिख्यानर्थकारिणीं तदर्थक्रियां धत्ते, एवमेव स्वस्वातन्त्र्यापरिज्ञानादणुतामापन्नः स्वात्मा वर्णाश्रमजात्याद्यभिमानेन निबध्यते. प्रबुद्धा हि स्वात्ममयं विश्वमन्तर्बहीरूपतया प्रत्यभिजानानाः संसारान्मुच्यन्ते नच तदपरिज्ञाने किमपि स्वात्मगोपनासतत्त्वक्रीडां विना कारणमुत्पश्यामः, तथातथा निगूहितपरमार्थत्वेन यन्महेश्वरस्य प्रसरद्रूपत्वं तदपि तस्य स्वातन्त्र्यमेव । इयं हि विमर्शलता विश्वसिसृक्षया प्रसरन्ती क्रमेण वाच्यवाचकात्मषडध्वात्मना पल्लविताज्ञानां बन्धयित्रीत्यर्थः । यदाह स्पन्दे —

'सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥'

इति ॥ ११ ॥

ननु स्वातन्त्र्यप्रत्यभिज्ञानं संसाराच्च विरतिः कथमणोर्भवतीत्याशंक्य

युगलकेनाह- —

तत्प्रसादरसादेव गुर्वागमत एव वा ।
शास्त्राद्वा परमेशस्य यस्मात्कस्मादुपागतम् ॥१२॥
यत्तत्त्वस्य परिज्ञानं स मोक्षः परमेशतः ।
तत्पूर्णत्वं प्रबुद्धानां जीवन्मुक्तिश्च सा स्मृता ॥१३॥

विश्वमयतदुत्तीर्णस्वस्वरूपं प्रत्यभिज्ञातुं किमपि तपःपूजाक्रमादि न प्रगल्भते, तस्य मायीयत्वेनान्धतमसप्रख्यत्वादमायीयं संवित्प्रकाशं प्रकाशयितुमसामर्थ्यात् । स्वात्मोपलब्धौ तपोवैराग्याद्यपेक्षायामपि तत्संपत्तेः कारणान्तरमन्वेष्टव्यं, तत्रापि कारणान्तरमित्यनवस्थापातस्तथा च स्वातन्त्र्यं हीनं भवेत् तस्मात्परमेश्वरः स्वेच्छयेव विश्वक्रीडामुद्भिभासयिषुः स्वशक्त्या तिरोधानाख्यया स्वात्मानं तिरोधाय पुनरपि तयैवानुग्रहाख्यया प्रत्यभिज्ञाय स्वमुद्वेष्टयते तच्चोद्वेष्टनं परशक्तिपातवशात्प्रतिभाप्रसादनपूर्वं स्वात्मशिवताप्रत्यभिज्ञानं शक्तिपातवैचित्र्याद्बहुधा भवतीइत्याशयेन शक्तिपातकार्याणि निरूपयन्नाह- तदिति, कश्चित्तीव्रशक्तिपात-पवित्रितहृदयः सिद्धयोगिनीदर्शनचरुभोजनादिनानुपायपथेन स्वात्मानं प्रत्यभिजानातीति । यदुक्तं तन्त्रालोके -

'सिद्धानां योगिनीनां च दर्शनं चरुभोजनम् ।
कथनं संक्रमः शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम् ॥
इत्याद्यो निरुपायस्य संक्षेपोऽयं वरानने ।', इति

अत एवोक्तम् —'तत्प्रसादरसादेव' इति एवशब्दः कारणान्तरं निरस्यति । प्रसादो हि संविन्नैर्मल्येन सकृदेव भैरवीयपरप्रतिभोन्मज्जनं तत्र पौनःपुन्येनोपायपरिशीलनाभावात् । यदुक्त तन्त्रालोके -

'उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तत्प्रसादतः ।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपकः ॥

इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिताः ।
विना भूयोऽनुसन्धानं भान्ति संविन्मयाः स्थिताः ,॥

इति । तथा कश्चित्तीव्रशक्तिपातानुगृहीतो गुरुमुखादागमार्थं विज्ञाय अकिञ्चिच्चिन्तकत्वादिशांभवोपायक्रमेण परतत्त्वाभिज्ञतामेतीत्यत उक्तम् — 'गुर्वागमत एव वा, इति। गुरुणोपदिष्टं प्रतिबोधक्रममाश्रित्य विश्ववैचित्र्यस्य चित्प्रतिबिम्बत्वेन परामर्शनादित्यर्थः । यदुक्तम् -

'इत्थं विश्वमिदं नाथे भैरवीये चिदम्बरे ।
प्रतिबिम्बमलं स्वच्छे न खल्वन्यप्रसादतः ॥' (तं० ३।६५)

इति । तथा कश्चित्सत्तर्कादिसहकृतेन पारमेशशास्त्रेण शाक्तपरिपाट्या प्रत्यभिज्ञां प्राप्नोति। तदुक्तम् —

'यस्य स्वतोऽयं सत्तर्कः सर्वत्रैवाधिकारवान् ।
अभिषिक्तः स्वसंवित्तिदेवीभिर्दीक्षितश्च सः॥'.(तं० ४।४२)

इति। अतः 'शास्त्राद्वा परमेशस्य' इत्युक्तम् । अधरदर्शनानि परिहृत्य पारमेशं त्रिकादिशासनमवलम्ब्य इत्यर्थः। यदुक्तम्-

'स समस्तं हि शास्त्रार्थं सत्तर्कादेव मन्यते ।
शुद्धविद्या हि तन्नास्ति सत्यं यद्यन्न भासयेत ॥'(४।४४)

इति। तथा मन्दशक्तिपातवान् कश्चिदुच्चारकरणध्यानादिना आणवोपायक्रमेण ऊर्ध्वोर्ध्वसोपानाधिरूढेऽनुत्तरपदविश्रन्ति यातीत्यत आह - 'यस्मात्कस्मादुपागतमिति' यं कंचित् स्थूलं ध्यानकरणाद्युपायमाश्रित्य उपागतं प्राप्तमित्यर्थः, येनैषां निर्व्युत्थानं सदोदितसमावेशो जायते। इत्थं यदनुत्तरसंवित्तत्त्वस्य परिज्ञानं विश्वपरिपूर्णाहंभावचमत्कारोल्लासेन स्वस्वातन्त्र्याभिव्यक्तिः स एव मोक्षः, नतु देवाद्यवच्छिन्न-स्थानान्तरप्राप्तिः । यदाहाचार्यः —

'मोक्षस्य नैव किञ्चिद्धामास्ति नचापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः' ॥ (प०सा०६०)

इति । सैव परमेशता तत्तद्विश्वात्मना प्रस्फुरद्रूपत्वं पारमेश्वर्यमभिन्नप्रकाशमयं नतु भेदमयाणिमासिद्धयः । तदेव पूर्णाहन्ताविमर्शमयबोधशालिनां प्रबुद्धानां पूर्णत्वं विश्वभरितस्वभावत्वं सैव देहप्राणादि धारयतां जीवतां प्रमातॄणां मुक्तिः जीवच्छिवावस्था शास्त्रेषु स्मृतेति ॥१२-१३॥

एवं बन्धमोक्षकल्पनापि कल्पितैवेत्याह—

एतौ बन्धविमोक्षौ च परमेशस्वरूपतः ।
न भिद्येते न भेदो हि तत्त्वतः परमेश्वरे ॥१४॥

एतौ समनन्तरोक्तलक्षणौ बन्धमोक्षौ च परमेश्वरेच्छामात्रकल्पितत्वात् परमेशस्वरूपतः संवित्स्वातन्त्र्यान्न भिद्येते भिन्नतया स्थितिं न यातः, तद्व्यतिरिक्तत्वेऽसंवेद्यमानत्वान्न प्रस्फुरेतामित्यर्थः । यतः स्वेच्छयैव स्वात्मप्रच्छादनक्रीडारसिकत्वान्महेश्वरो विश्वनाट्यक्रीडाप्रदर्शनाभिप्रायेण अन्तरात्मरङ्गे तत्तद्भूमिकाग्रहणं विदधत् विभावानुभावादिभिर्व्यञ्जितैः सात्त्विकभावादिसहचरितैस्तत्तत्स्थायिभावैः समुन्मिषितामलौकिकरसचमत्कृतिमास्वादयतीत्येतद्वास्तवार्थाभिज्ञानविरहादपराभिः शक्तिभिः प्रमुषितपरमार्थानां बन्धाभिमानो जायते, अनुग्रहभाजनानां तु चिद्घनसंवित्स्वातन्त्र्यमेवान्तर्बहिर्विश्वोल्लासेन प्रस्फुरतीत्यभिज्ञातवतां अघोरात्मना शक्तिचक्रेण स्वाभिन्नं प्रकाशघनात्म विश्वं प्रदर्शयता लब्धपरमार्थनिधीनां मोक्षाभिमान इत्युभयमिदं भगवान् स्वाच्छन्द्येन विजृम्भयति । अतस्तच्छक्तिमयत्वात् तस्मान्न भिन्नमेतदिति तात्पर्यं हेतुवचनेन द्रढयति, न भेद इति, हि यस्मात्तत्त्वतः परमार्थत आत्मनि परमेश्वरे भेदो नास्ति सर्वस्य प्रकाशसारपरमार्थत्वेनाणुमात्रमपि भेदकलनाया

असंभवात् तस्मात्पूर्णाहंभावचमत्कारोद्रेकात् पूर्णे पूर्णं विजृम्भमाणं नापूर्णं किमपि बन्धमोक्षादिकलनेति सर्वमनवद्यम् । यदुक्तम्—

'संसारोऽस्ति न तत्त्वतस्तनुभृतां बन्धस्य वार्तैव का
बन्धो यस्य न जातु तस्य वितथा मुक्तस्य मुक्तिक्रिया ।
मिथ्यामोहकृदेष रज्जुभुजगच्छायापिशाचभ्रमो
मा किञ्चित्त्यज मा गृहाण विहर स्वस्थो यथावस्थितः ॥'

इति ॥१४॥

एवं परमार्थाभिज्ञानां जीवदवस्थायामेव समाश्वासदायिनीं पारमेश्वर्यरसनिर्भरां तत्समापत्तिमासादयितुमभ्युपायमाह -

इत्थमिच्छाकलाज्ञानशक्तिशूलाम्बुजाश्रितः ।
भैरवः सर्वभावानां स्वभावः परिशील्यते ॥१५॥

इत्थमुक्तपरामर्शनेन सर्वभावानामन्तर्बहिर्वर्तिनां नीलसुखादीनां स्वभावः प्रकाशात्मा भैरवो विश्वभरितस्वभावत्त्वात् पूर्णः स्वतन्त्रशिवप्रकाशः परिशील्यते परामृश्यते । स्वात्मन्येव चिदाकाशे विश्वमस्म्यवभासयन् स्रष्टा विश्वात्मक इति प्रथया भैरवात्मतेत्युक्त्या भैरवीयो संविदेव हि बहिरन्तस्तत्तद्भावाद्यात्मना चकास्ति यत्किञ्चित्करणेश्वरीभिराभास्य तं त्सर्वं स्वात्मैव स्वात्मानं स्वातन्त्र्यात्परामृशति न व्यतिरिक्तमिति यावत् यदुक्तमीश्वरप्रत्यभिज्ञायाम् -

'स्वात्मैव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु ।'

इति । कीदृश इत्याह - इच्छेति, कलेति, क्रियाशक्तिः इच्छाज्ञानक्रियाशक्तय एवारात्रयसाम्याच्छूलं तत्र यन्मत्स्योदरीमतादिप्रसिध्द्या सङ्कोचविकासधर्मशालि पद्ममौन्मनसं पदं तदाश्रितस्तदुत्तीर्णतया भासमान इत्यर्थः

अथच विश्वस्य संवित्प्रकाशादनतिरिक्ततया स्थितिं प्रदर्शयितुं श्रीपराबीजस्याप्युदयः प्रोक्तः, तत्र स्वभाव इत्यनेनामृतबीजस्योद्धारः कृतः तस्यानचुक्तत्वादुच्चारणमशक्यमित्यतः 'अस्मिंश्चतुर्दशे धाम्नि स्फुटीभूतत्रिशक्तिके ।', इत्युक्त्या इच्छाकलेत्यनेन शूलबीजोद्धारः । भरणवमनस्वभावत्वाद्भैरव इत्यनेन बहिरन्तारूपतया द्विधा विसर्गस्योद्धारः । सर्वभावानामित्यनेनास्य व्याप्तिरुक्ता । यदुक्तं मालिनीविजये—

'सार्णेनाण्डत्रयं व्याप्तं त्रिशूलेन चतुर्थकम् ।
सर्वातीतं विसर्गेण पराया व्याप्तिरिष्यते ॥'

इति ।

'तथाहि सदिदं ब्रह्ममूलं मायाण्डसंज्ञितम् ।
इच्छाज्ञानक्रियारोहं विना नैव सदुच्यते ॥
तच्छक्तित्रितयारोहाद् भैरवीये चिदम्बरे ।
विसृज्यते हि तत्तस्माद्बहिर्वाथ विसृज्यते ॥',

इति च । एवंव्याप्तिके पराबीजे निरन्तराभ्यासकरणात्पारमेश्वरसमावेशादैश्वर्यसिद्धिरिति विश्वसिद्धिकारणैतद्बीजपरामर्शनात्करणस्य कटाक्षेण प्रदर्शनं सूचितवानाचार्यः ॥१५॥

इदानीमाचार्यः स्वनामकीर्तनाच्छास्त्रार्थं प्रत्यभिमुखीकरणादुपसंहरति-

सुकुमारमतीन् शिष्यान्प्रबोधयितुमञ्जसा ।
इमेऽभिनवगुप्तेन श्लोकाः पञ्चदशोदिताः ॥१६॥

इति बोधपञ्चदशिका समाप्ता ॥

सुकुमारमतयो मन्दशक्तिपातवन्तः, अञ्जस सुखेन. स्पष्टमन्यत् ॥१६॥

यां बोधपञ्चदशिकां मतिमान्द्यभाजां
सम्बोधनाय निबबन्ध गुरुः सुरम्याम् ।
माहेश्वरोऽभिनवगुप्त इतीड्यनामा
तत्र व्यधाद्व्यवरणं हरभट्टशास्त्री ॥
भूनन्दनन्दवेदेऽब्दे(४९९०)लौकिके फाल्गुनेवदि ।
एकादश्यां तिथौ शास्त्री हरो विवरणं व्यधात् ॥

इति श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्य - श्रीमदभिनवगुप्तविरचितायां बोधपञ्चदशिकायां पं० हरभट्टशास्त्रिकृतं विवरणं समाप्तम् ॥

श्रीशिवार्पणमस्तु ॥



The Kashmir Series Of Texts & Studies.

No. LXXVII.

PARAMARATHACHARCHA
OF
ABHINAVAGUPTA

———0: :0———

With Vivarana] by

Pt. Hara Bhatta Shastri

Edited by
Pandit Jagaddhar Zadoo, M.A., M.,O.L., Shastri
Superintendent Research, Museum and
Archaeological Department,
His Highness' Govt.
J & K. Srinagar.

———:- ¦ -:———

Published uuder the authority of the Government of
His Highness Rajarajeshwara Maharajadhiraj
Sri Maharaja Harisinghji Bahadur
G.C.S.I.,G C.I.E.,K.C.V.O;LL.D.
Maharaja of Jammu & Kashmir-

Printed at
The Krishna Printing Press.
Kothi Bagh Srinagar,
Kashmir.

A.D. 1947

ॐ

कश्मीरसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः ७७

महामाहेश्वरश्रीअभिनवगुप्ताचार्यरचिता

परमार्थचर्चा

पं० हरभट्टशास्त्रिकृत विवरणोपेता ।

[o]

श्रीराजराजेश्वर – महाराजाधिराज – कश्मीरनरेन्द्र

श्रीहरिसिंहजीबहादुराज्ञया

रिसर्च-कार्यालयाध्यक्ष-पण्डितजगद्धरजाडूशास्त्री

एम.ए.,एम.ओ.एल., इत्येतैः

कार्यालयस्थेतरसंपादकपण्डितसहायेन

संशोधनादिसंस्करणोत्तरं

संपाद्य

कृष्णा-प्रिंटिंग प्रेस श्रीनगरे इति मुद्रणालये मुद्रापयित्वा

प्राकाश्यमुपनीता

[o]

श्रीनगर – कश्मीर.

संवत् २००४ खैस्ताब्दः १९४७

श्रीपरमार्थचर्चा

विवरणोपेता ।

अभिनवरूपा शक्तिस्तद्गुप्तो यो महेश्वरो देवः ।
तदुभययामलरूपमभिनवगुप्तं शिवं वन्दे ॥

इह खलु वन्द्याभिधानः श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तप्रभुस्तीव्रशक्तिपातपवित्रितहृदयानां जनानां हृत्सु त्रिकशास्त्ररहस्यार्थसंप्रदायं संचिक्रामयिषुः शाम्भवोपायक्रमगर्भिण्या परमार्थचर्चाख्यया सप्तश्लोक्या परभैरवसमावेशमुन्मीलयन् परमार्थचर्चां विरचयामास । तत्र संविद्घन एक एव चिदब्धिः परमेश्वरोऽन्तर्बहिः पारिपूर्ण्येन समुच्छलत्तत्सदनन्तविश्वलहरीनिर्भरः पूर्णाहंविमर्शमयचिच्चमत्कारशालिनि स्वमहिम्न्येवावस्थितः, न ततो मनागपि सङ्कोचकलना भिन्नवेद्यवेदकाद्यात्मा त्रैकालिकी बाह्यत्वेन समुदेतीति । अथच स एवानन्दघनतया समुच्छलत्स्वभावः स्वेच्छयैव स्वप्रसादेव निरुपादानसहकारिकारणादिसंभारं

विश्वक्रीडामुद्भिभासयिष्यन् स्वस्वातन्त्र्येण शुद्धाशुद्धविमिश्ररूपाणि परस्परापोहनेनावभासमानानि मातृमेयादीनि तत्सम्बन्धांश्च कार्यकारणभाववैचित्र्यादीन् दर्पणप्रतिबिम्बवदनतिरिक्तानप्यतिरिक्ततया निर्भासयति स्वात्मन्येव देशकालाद्युपहितान् । निर्भासितानां च तेषां कालाद्यकलितः स एव पारमार्थिकस्वभाव इति वस्तुतो न किञ्चित् सृज्यते स्थाप्यते संह्रियते वेति । आनन्दघनश्चिदाकाश एव पूर्णपूर्णतरस्तथातथापूर्णमानश्चकास्तीति षडर्धशास्त्रसंप्रदायः । अत्रैव वादिनो विब्रुवते, कथं चिदात्मा महेश्वरोऽन्तःस्थितं भावजातं स्वात्मनः सकाशात् स्वेच्छया बाह्यत्वेनाभासयन् बहिर्भूतमपि स्वात्मन्येव भासयेत् तथाभासमानानामपि भावानां कथं स एवात्मा इत्येतत्सर्वं विप्रतिषिद्धमालक्ष्यते इति एवं शङ्कमानानां प्रतिपक्षिणां शङ्कां निरसितुं परमार्थश्चर्च्यते ॥

तत्र चिदात्मनि महेश्वरे सर्वोऽयं लोकव्यवहारो विश्रान्त इत्येतावत्कथं प्रत्येयतामियादित्याशंक्याह—

अर्केन्दुदीपाद्यवभासभिन्नं
नाभात्यतिव्याप्ततया ततश्च ।
प्रकाशरूपं तदियत्प्रकाश्य
प्रकाशताख्या व्यवहार एव ॥१॥

इह तावद्घटादिरर्थः संविदो भिन्नत्वेन प्रकाशयितुं न शक्नुयात् संविदात्मत्वे तथा सोऽवभासेत । यद्यर्था—

नामर्थरूत्वमेव प्रघाशमानत्वं नान्यत् तद्व्यतिरिक्तं तज्ज्ञा नोदयात्प्रागिव ज्ञानोदयेऽपि न ज्ञायेत, स्वात्मन्यपि वा सोऽर्थो न व्यवस्थाप्येत अन्तरेण संवित्प्रकाशप्रसादं तद्व्यवस्थाया अनुपपत्तेरिति सर्वव्यवहार उच्छिद्येत। वेद्यधर्मत्वेऽपि प्रकाशस्य प्रमातृधर्मत्वं दुरुपपादं समर्थयितुं बीजाङ्कुरवत्प्रमातुरर्थरूपप्रकाशस्य कारणत्वे लब्धार्थाकारप्रकाशतायां तदनपेक्षणात् प्रमातृलग्नता नोपपत्त्या घटते । तस्मात्प्राग्वद् दोषः प्रसज्येत । अर्थाद्भिन्नस्य प्रकाशस्य तत्सम्बन्धिता च कथं युज्येत स स्वयमप्रकाशात्मतया अप्राप्तस्वात्मलाभः कथं परं संबध्नीयात् सर्वथार्थतत्संविदोर्भिन्नतायां मुक्तदोषप्रसक्तेः । तस्मादिदं सिध्यति यद्घटादेः स्वरूपं संविदभिन्नत्वमिति । अतो विश्वमिदं भावजातं संवित्प्रकाशलग्नमेव तदनधिकवृत्ति अवभासते । मायाप्रमातुः करणानुग्राहकोऽर्कादिप्रकाशोऽपि जडभावराशिसादृश्यात् पृथगभातुं नालं संविदमवलम्ब्यैव तत्प्रकाशनात् । सर्वव्यापकत्वान्न केवलं भावमेवावभासन्ती संविद्यावत्सदा असंभाव्यमानसत्ताकस्य खपुष्पादेरभावस्यापि जीवितप्रदत्वाद्विषयतां विधत्ते इत्याशयेनोक्तं 'अर्केन्द्वित्यादि'। ततश्च संविदात्मकचित्प्रकाशमाश्रित्यैव भासमानं तदर्कादि चित्प्रकाशात्मकं न ततो मनाङ्मात्रं भिद्यते । कथं तर्हि ग्राह्यग्राहकात्मा व्यवहार इत्यत आह — येयं चिदात्मनो मायाशक्त्या परस्परं वेद्या वेदकाश्च, वेदकाश्चान्योन्यं

वेद्याश्च इयन्तोऽसंख्या विभेदिताः तद्भावाख्यो, स संवृतिसत्यतया व्यवहार एव मायाप्रमात्रपेक्षया भेदैकप्राणो भासते । अविच्छिन्नप्रमातुः पुनः सर्वं स्वात्मकल्पतया महामन्त्रात्मकमेव चकास्तीति भावः ॥१॥

ननु तावदमी विश्वे भावाः संविदि विश्रान्ता भवन्तु कथं तदैकात्म्यं ते समापद्येरन्, कुतश्च व्यतिरिक्ततया भासमानाः संविदं न भेदयेयुरपि इत्याशंक्याह—

ज्ञानाद्विभिन्नो नहि कश्चिदर्थ-
स्तत्तत्कृतः संविदि नास्ति भेदः ।
स्वयं प्रकाशाच्छतमैकधाम्नि
प्रातिस्विकी नापि विभेदिता स्याम् ॥२॥

यतोऽर्थाः संविद्विश्रान्ता एव प्रकाशन्ते ततस्ते संविदो न विभिद्यन्ते, तेषां प्रकाशमानत्वमेव संविदभिन्नत्वं, संविदेव प्रकाशः संविन्माहात्म्यादेव मायीयप्रमातृभावकल्पनोन्मीलनायां भावाः संवित्प्रकाशादतिरिक्ता इव प्रकाशन्ते च, प्रकाशमानाश्च ते अनुज्झितसंवित्तादात्म्या अपि विच्छिन्नतया बहिरपि भान्ति । तस्मात्संवित्प्रकाशानतिरिक्तवृत्तय इति सिद्धम् । त्यक्तसंविदैकात्म्या हि प्रकाशाद्भिद्यमाना अप्रकाशतामापन्ना न कदाचिद् भासेरन् इति लोकव्यवहारः सर्वः क्रयविक्रयाद्यात्मा विनश्येत् । नच तथा, अतः प्रकाश एव स्वातन्त्र्येण तथातथा भाववैचित्र्येण प्रकाशते इत्याशयत उक्तम्—'ज्ञानाद्विभिन्नो नहि कश्चिदर्थः

इति । नन्वेव तथापि वेद्याः स्वमहिम्ना संविदं विभिन्दन्तु घटसंविदसौ पटसंविदियमित्यादिनेत्याशंक्याह– 'तत्तदिति' नच भावैः क्रियमाणः संविदि भेद उपपद्यते, भावा हि संविदो भिन्नत्वेनाप्रकाशमानाः स्वसत्तां नोपलभेरन् । कथं पुनः स्वजीवितस्थानीयां संविदं विभेत्तुमुद्युञ्जीरन्, अतस्ते संविदैकात्म्यभाजस्तदन्तर्मग्ना एव । यदि स्वात्मनि भिद्यमानत्वं सहेरन् तत्संविद्भेदिनः संभाव्येरन् । ते तु तत्कर्तुमसमर्था एव । अथ भावानां स्वसंवेदनेन क्रियमाणे भेदेऽभ्युपगम्यमाने स्फुटमन्योन्याश्रयदोषापातः । यावतः परस्परं भावतत्संवेदनयोर्वैविक्त्येन अवस्थित्यभावात् । मूर्तिक्रियावैचित्र्येणोद्भासितौ देशकालावपि वेद्यान्तर्गतौ प्रकाशैकात्म्यमुखप्रेक्षित्वात् कथं– कारं प्रकाशं विभिन्ताम् । सर्वं भावजातं प्रकाशाभिन्नं प्रकाशमानत्वात् । नहि तद्भिन्नस्याप्रकाशरूपस्य प्रकाशमानत्वं युक्तं विप्रतिषिद्धत्वादिति बहुशः प्रोक्तम्, अतो देशाद्युपाधिरपि चित्प्रकाशाभिन्नं भावजातं न जातुचिद्विभिन्द्यात् इति वेद्यवत्कालादिरपि न प्रकाशस्य भेदकृत् । ननु मा वेद्या विभिन्दन् संविदस्तु संविदन्तरात् तद्भवेदेव भेद इत्याशंक्याह– 'स्वयमिति' । अस्यां संविदि प्रतिवस्तु संविदन्तरेण कृता विभेदिता न भवेत्, यतः प्रकाशैकरूपा संवित् तस्या घटादि– संविदन्तरमवलंब्य भेदव्यवहारे संवृतिबुद्ध्या स्वीक्रियमाणेऽपि एकतरत्राप्रकाशरूपत्वमापतेत् इत्यसंविद्रूपतया न किञ्चित् स्यात्, प्रकाशैकरूपतया अविभेदिनि तस्मिन्संविदेकमय-

त्त्वमेव, परिमितप्रमातृपदे तु मायावृत्तया केवलं भिन्नतया भासमानोऽयं स्वरूपभेदो भवन्नपि प्ररोहं न याति प्रकाशैकरूपत्वात् इति, तस्माद्विश्वं तावदिदं संविद्येव विश्रान्तम् । ननु येयं संविन्मूर्धाभिषिक्ततया प्रधानीक्रियते सा शान्तब्रह्मवदौदासीन्यमवलम्बमाना कथं विश्वमाभासयेत् कथं च तद्विश्रान्तिस्थानं भवितुमर्हा इत्याशंकां विशेषणद्वारेणापाकुर्वन्नाह-स्वयं प्रकाशेति, सा हि संवित्स्वयं प्रकाशा परप्रकाशमुखाधीनत्वाभावात् स्वप्रकाशा, स्वप्रकाशत्वमेवाजडत्वं यन्माहात्म्याद्वेद्यवर्गं प्रकाशैक्यतया भासयन्ती स्वानन्दरसचमत्कारपूर्णतामेति इत्यतः सा सविमर्शा, विमर्शवैधुर्ये तु जडत्वप्रसक्तेः स्वविश्रान्तिशून्या कथं परं विश्रामयितुं शक्नुयात् । अतः संविन्मयस्य परमेश्वरस्य विमर्श एव समवेतेच्छाशक्तिपर्यायो रुद्रक्षेत्रज्ञादीन् प्रमातृवर्गान् नीलसुखादिप्रमेयनिचयांश्चावभासयति तथा निर्भासितानपि तान् संविन्मये प्रकाश एव विश्रान्तान्करोतीत्यर्थः । नन्वेवं स प्रकाशो विश्वाधारत्वे सति विश्वस्माद्भिन्न एव कथं न भायादित्याशंक्याह—'अच्छतमेति'। अच्छाच्छतरयोर्दर्पणस्फटिकयोरच्छतमत्वं नास्ति यतो दर्पणस्यैकपार्श्वप्रतिबिम्बितस्य स्फटिकस्यापि सर्वतः संक्रान्तबिम्बस्य स्वं रूपमपि पृथक प्रथते संवित्प्रकाशस्य तु एतदेवात्यन्तनैर्मल्यं यद्विश्वप्रतिबिम्बनिर्भासनेऽपि स्वाकारस्यानवभासनं नचैवमनवभासने प्रकाशतामुज्झेत् इत्याह—'एकधाम्नीति' । मुख्यप्रकाशायामित्यर्थः ।

प्रकाशतात्यागे हि तृणमात्रस्यापि अप्रकाशमानत्वमापद्येतेदिति भावः एवं सर्वे भावाः स्वात्मनि प्रकाशातिरिक्ते असत्कल्पाः अतः संवित्प्रकाश एव स्वतन्त्रः स्वेच्छयैव स्वान्तःस्थितान् विश्वान भावानुन्मील्य बहिर्भासितानपि तानन्तःस्थानेवाभासयन् तत्तदात्मत्वेन स्फुरतीत्यर्थः ॥२॥

ननु भावा इमे वैचित्र्येण भासमानाः कथमपह्नूयेरन् यावता तथावभासमानानां शिव एवात्मा इत्युक्तिं कः प्रतीयात् भावा हि भेदाभासनेन व्याप्ताः प्रकाशन्ते । शिवात्मकत्वं तु तेषां तद्विरोधिनैकरूपत्वेन व्याप्तं भाति, तस्मादिमे भावायुगपदेकात्मानोऽनेकात्मानश्च कथमित्याशंक्याह——

इत्थं स्वसंविद्घन एक एव
शिवः स विश्वस्य परः प्रकाशः ।
तत्रापि भात्येव विचित्रशक्तौ
ग्राह्यग्रहीतृप्रविभागभेदः ॥३॥

इत्थ प्रकाशघनैकरूपायां संविदि अभिन्नवेद्यराशिना असंभाव्यमानभेदात्मना प्रकारेण स्वसंविद्घनः शिव एवैको मुख्यः सदाशिवादेर्भूमिपर्यन्तस्य स्वात्मकल्पस्य विश्वस्य प्रकाशस्तत्स्वरूपभूतः स एव हि नीलादिकमर्थजातमत्यक्तनीलादिभावमपि प्रकाशयन् प्रकाशाभेदमयतां प्रापयति, नीलादयो हि अत्यक्तस्वभावा एव चेत्यमानाः सन्तः संविदभेदमया एव । एतदेव संविद्घनात्मनः शिवस्य शिवत्वं यद्वैश्वरूप्येणावभासमानत्वेऽपि प्रकाशस्वभावादप्रच्यावः विश्वस्फुरणस्य

संविन्मरीचिकल्पत्वात् चित्कचनमयत्वम् चिद्व्यतिरिक्तस्य अप्रकाशमयतया न कदाचिद्भानं संभवेत्, अत एव सैन्धवघनवदन्तर्बहिः पूर्णतया एकैव संविदानन्दातिशयेनोच्छलन्ती विश्वं विस्फुरतीत्यर्थः । नन्वेवं शिवैकात्मत्वेऽपि कथमनेकात्मतया विश्वाभास इत्याशंक्याह—'तत्रापीति' । संवित्प्रकाशैकात्मत्वावभासेऽपि परमेश्वरस्य मुख्यां स्वस्वातन्त्र्यशक्तिमवलम्ब्य निमितीकृत्य च मन्त्रमहेश्वरादिप्रमात्रपेक्षया तदुचितप्रमेयभेदप्रभेदो विचित्रो भात्येव नच न भातीत्यर्थः । तस्यामेव मुख्यशक्तौ शक्त्यन्तराणामसंख्यानामन्तर्भावः । एतदेव स्वाच्छन्द्यं भगवतो यत्संविद्घनात्मक एव भवन् ग्रहीतृग्राह्यात्मना त्रिविधरूपेण संविद्रूपादनतिरिक्तेनापि तदतिरिक्ततया भासमानेन वपुषा प्रकाशते विमृशते चेति सहृदयसंचेत्यमिदम् मन्त्रमहेश्वरादीनां प्रमेयभेदः श्रीतन्त्रा लोकादिषु निर्णीतस्तत एव विवेच्यः, विस्तरभिया नेह वितन्यते । तदेवं युगयद्भावानामनेकधा भासमानानामेकात्मत्वमनेकात्मत्वं चान्तर्बहिः स्वातन्त्र्यशक्तिवशाद्घटते । तथा वैचित्र्याभासेऽपि पूर्णाहमकृत्रिमपरामर्शचमत्कारसारतया अभेदभूम्यवलम्बनं विजृम्भमानमेवेति ॥३॥

ननु विश्वमिदमीश्वरेच्छयैव यदि बहिरवभास्यते तदानीमेव स्वात्मन्येव भास्यत इति विरुद्धमेतदुपलक्ष्यते, तथा हि स्वात्मनाविभेदेन भासमानस्यार्थस्य बहिर्निभासनं विरुध्यते नहि कश्चिदर्थोऽन्तर्भासमानस्तदानीमेव बहिर्भूतश्च भासि-

तुमुपपद्यते घट इव गृहान्तर्भूतश्चेति किमेतदित्याशंक्याह—

भेदः स चायं न ततो विभिन्नः
स्वच्छन्दसुस्वच्छतमैकधाम्नः ।
प्रासादहस्त्यश्वपयोदसिन्धु—
गिर्यादियद्वन्मणिदर्पणादेः ॥४॥

सोऽयं प्रमातृप्रमेयादीनां भेदोपभेदवैचित्र्योन्मीलनात्मा भेदोऽपि ततो बोधात्मनो भैरवस्वरूपाद्विभिन्नो नास्ति, भेदप्रकाशनमपि संविदन्तःस्थितमेव बहिरपि तत्स्वातन्त्र्याद् घटते मनागपि ततो भिन्नत्वेन परित्यक्तसंविदभेदं न स्फुरितुमुत्सहते । ननु भासते च विश्वमिदं संविदेकात्मकं चेति कथं संगच्छतामित्याशंकापासनाय विशिनष्टि— 'स्वच्छन्देति' । इदमेव स्वाच्छन्द्यमप्रतिहतेच्छत्वं यद्भिन्नतया भासमानत्वेऽपि वस्तुतोऽभेदात्मना स्वात्मनोऽनधिकवृत्त्या निर्भासनम् । सेयं भगवतः पराशक्तिर्यया प्रकाशपरमार्था निखिला भावाः पूर्णाहंविमर्शसारतया संविन्मयस्वात्मरूपा आभासन्ते । नन्वेवं स्वात्मानधिकवृत्त्या भान्तोऽपि भावाः कथमाधिक्येनेव प्रकाशन्त इत्यत आह— 'सुस्वच्छतमेति' । अत्यन्तनिर्मलादित्यर्थः । तत एवानधिकमपि विश्वमधिकमिव भाति सुस्वच्छतमत्वस्यैवेदं माहात्म्यं, वस्तुतो विश्वं नाम न किञ्चिद्भिन्नं वस्तु, न कदाचित्सृष्टं सृज्यते

संह्रियते वा केवलं स्वैश्वर्यातिशयतः शिव एव तथा तथाऽऽभासपरमार्थेन स्वेच्छोल्लासितवेद्यवर्गेण परितो विजृम्भमाणः स्वात्मानमानन्दरसनिर्भरं रसयतीति भावः, तथा 'एक धाम्न इति' सर्वविश्रान्तिस्थानत्वादनुपचरितप्रतिष्ठात्मन इत्यर्थः । एतदेव दृष्टान्तद्वारा हृदयङ्गमीकरोति यथा मणिदर्पणादेः स्वच्छवस्तुनः सकाशात्प्रसादादयस्तद्गताश्च अवयवावयवविभावाधाराधेयभावप्रभृतयः सर्वे व्यवहारा विचित्रा मनाङ्मात्रमपि ततो न भिन्ना अविद्यमानप्रातिस्विकस्वरूपाधिक्या अपि परस्परस्वरूपवैचित्र्यवैविक्त्येन तदधिकेनेवाभासन्ते इति । स्वच्छत्वमेतदेव दर्पणादेर्यत् भिन्नदेशकालाद्युपहितं ग्रामनदीपर्वतादिकं बिम्बाभिमतं स्वात्मनि प्रतिबिम्बितत्वेऽपि स्वरूपमतिरोधाय तथात्वेन दर्शयितुं योग्यतया प्रतिबिम्बग्रहणसहिष्णुत्वमिति ॥४॥

ननु दर्पणादेः प्रतिबिम्बावभासित्वे व्यतिरिक्तस्य प्राक्सिद्धस्य बिम्बस्यापेक्षा अवश्यंभाविनी, विना बिम्बं प्रतिबिम्बं दर्शयितुमसमर्थत्वादेवं चिदात्मापि स्वस्मिन् प्रतिबिम्बरूपं विश्वमाभासयन् नूनं स्वस्माद्भिन्नमेव प्रतिबिम्बार्पकं बिम्बमपेक्षेतेति, कतमत्तद्बिम्बं प्राग्लब्धसत्ताकं प्रमाणसिद्धं स्यादिशंकयाह—

आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि
समर्पकं स्याद्यदि मानसिद्धम् ।

सुस्वच्छसंविन्मुकुरान्तराले
भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत् ॥५॥

यदि प्रत्यक्षादिना प्रमाणेन निर्मले दर्पणेऽन्तः-हस्त्यश्वपुरुषनदीनगरादीनां प्रतिफलिताभासानां प्रतिबिम्ब-करणहेतुः बाह्यं वस्तु समर्पकं प्रति बिम्बं ददत् बिम्बं सर्वत्र सर्वैः प्रमातृभिः परिदृश्यते, तथापि अत्यन्तनिर्म-ले संविद्दर्पणमध्ये विमर्शस्वातन्त्र्ययोगिनि भावेषु प्रति-बिम्बायमानेषु नास्ति पृथङ्निमित्तान्तरं प्रतिबिम्बार्पकं कारणं यद्वशाज्जगन्निर्भास्येत। विनैव बिम्बादिहेत्वन्तरं स्वविमर्शबलयोगात् स्वच्छन्दः संविन्मयो भगवान् स्वात्म-न्येव स्वेच्छयैव विश्वमुन्मीलयतीति रहस्यार्थः। नतु द्वैतनय इव परमाणुकर्मादि जगदुत्पादे भिन्ननिमित्तादि-कमन्वेष्यम्। शान्तब्रह्मवादिवन्मलमायादि परिकल्प्यम्, एतदेव संविन्मुकुरस्य जडबाह्यदर्पणाद्वैलक्षण्यमजडत्वापा-दकं स्वाच्छ्यं नाम यत् तथातथा भासमानमात्मानं विमृशन्नेवातिरिक्तत्वानुभयात्मनापि स्ववपुषा सर्वदा भा-त्येव, दर्पणस्तु तथात्वविमर्शशून्यत्वाज्जड एवेत्यतः प्रथमानमपि जगन्न बहिः सृष्टमन्तःस्थमेव चिद्धृदया-यमानं सारं पूर्णतामावहतीति भावः ॥५॥

ननु परमेश्वरस्य स्वात्मन्यभेदेनान्तःस्थितं वेद्यवेदक-भावजातं बहिर्विस्रष्टुमवभासयितुं च किमितीच्छा जा-यते, चेत् जायते किं सप्रयोजनं निष्प्रयोजनं वा। नाद्यः

नित्यतृप्तस्य निराकांक्षत्वात्, द्वितीये पुनरिच्छोत्पादाभ्युपगमे सदैव बहिर्जगदवभासनं स्यात् न कदाचिद्वा तत्रापि विवर्तादिरूपं विश्वं प्रतिभासेतेत्याशंक्याह—

संविद्घनस्तेन परस्त्वमेव
त्वय्येव विश्वानि चकासति द्राक् ।
स्फुरन्ति च त्वन्महसः प्रभावात्
त्वमेव चैषां परमेश कर्ता ॥६॥

तेन सविमर्शतालक्षणेन हेतुना हे परमेश ! त्वमेवान्तर्बहिः स्वात्ममयेन विश्वेन परः पूर्णः संविद्घनः असंविद्रूपस्य व्यतिरिक्तस्याभावादित्यतस्त्वत्तो बहिर्न किञ्चिद्विसृज्यते दृष्टप्रत्ययोऽयं यत्स्वप्नसंकल्पनिर्माणादौ स्वसंविद एव निरतिशयैश्वर्यवशादुपादानादिसामग्र्यपेक्षाविहीनमेव तत्तदपरिमेयानां अन्तर्व्यवस्थितभावराशीनां बहिष्क्रियायां विजृम्भमाणायामनतिरेकितयावलोकनमिति न किमपि स्वतन्त्रे भगवति अप्रत्यं प्रत्युत स्वानुभवबाह्यस्य कल्पनमेवाविश्वास्यमिति सहृदयवेद्यम् । स्वतन्त्रत्वादेव निष्कारणं जगत्सिसृक्षायां नित्यप्रवृत्तो महेश्वरः सदैव पञ्चकृत्यकरणशीलः, तस्याप्रतिहतेच्छस्य स्वाच्छन्द्यं न केनापि निरोद्धुं शक्यं प्रतिक्षेप्तुं वा ; स स्वेच्छयैव स्वरूपगोपनात्मिकां क्रीडामुज्झिलासयिषुः संविन्मयानेव वेद्यवेदकात्मभावराशीन् प्रति कृत्यानि करोति । मायाप्रमातृभावग्रहणेनापि जगन्नाट्यावभासनकारी

पुनरपि निष्कारणमेव स्वात्मानं स्वशक्तिवीर्यप्रथनेन विगतबन्धनं विधत्ते । नच बन्धने मायाद्यावरणं निमित्तं कल्प्यम्, तदावरणे तस्य स्वनाशापत्तेः । स्वशक्तिविकासाख्ये बन्धनध्वंसेऽपि शक्तिपातं विना अन्यस्य वैराग्यादेः कारणान्तरस्य अनवस्थापातादिदोषादित्यतः पञ्चानां कृत्यानामुपलक्षणं तावत्सृष्टिस्थिती आह— 'विश्वानि चकासतीति' । त्वय्येव संविद्घने विश्वानि रूपाद्यात्मकानि जगन्ति द्रागक्रममेव चकासति तवैव ज्ञानक्रियात्मनो महसः प्रभावादैश्वर्यात् स्फुरन्ति च, चकारात् त्वय्येव लीयन्ते अर्थात्संविद एवोदेत्य तत्रैव प्रतिबिम्बितं तदभिन्नप्रकाशात्मकं विश्वं स्वात्ममयमेवेत्यर्थः । अत एवैषां जगतां त्वमेव कर्ता, एतदेव कर्तृत्वं यदलौकिककार्यकारणभावेन उपादानादिकारणं विना विश्ववैचित्र्यावभासनं, तदन्येषां नियतिशक्तिनियन्त्रितानां मायातत्त्वावस्थितानां ब्रह्मविष्णवादीनां नियतस्वस्वकृत्यानामसंभाव्यमेव । अत एव जगत्सर्जने मायाप्रकृत्यादेः कारणाभिमतस्य चित्स्वरूपाद् भेदाभेदविकल्पैरुपहतत्वात् कारणत्वं नोपपद्यते अतो विवर्तादिमयं जगन्न भवेत् । यदाहुराचार्याभिनवगुप्तपादाः—'विवर्तो ह्यसत्यरूपनिर्भासात्मा' इत्युक्तं, निर्भासते चासत्यं चेति कथं इति तु न चिन्तितम् । परिणामे तु रूपान्तरं तिरोभवति

रूपान्तरं च प्रादुर्भवति इत्युक्तम् । प्रकाशस्य तु रूपान्तराभावात् तत्तिरोधाने स्यादान्ध्यम् अप्रकाशश्च प्रादुर्भवन्नैव प्रकाशेत इत्युभयथापि सुप्तं जगत्स्यादिति न पर्यालोचितम् । प्रतिबिम्बवादे च स्वच्छतामात्रं संवेदनस्य न स्वातन्त्र्यमिति तत्समर्पकवस्त्वन्तरपर्येषणा कर्त्तव्या । अविद्या चानिर्वाच्या वैचित्र्यं चाधत्ते इति व्याहतम् । पारमेश्वरी शक्तिरेवेयमिति तु हृदयावर्जकः क्रमः । तस्मादनपह्नवीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवो भगवान् स्वातन्त्र्यादेव रुद्रादिस्थावरान्तप्रमातृरूपतया नीलसुखादि प्रमेयरूपतया च अनतिरिक्तयाप्यतिरिक्तयेव स्वरूपानाच्छादिकया संविद्रूपानान्तरीयकस्वातन्त्र्यमहिम्ना प्रकाशते इत्ययं स्वातन्त्र्यवादः प्रोन्मीलित इति ॥६॥

एवमुक्तरूपमेव स्वात्मानं मायाप्रमातृताप्रह्वीभावेन समुत्कर्षयन्नुपसंहरति —

इत्थं स्वसंवेदनमादिसिद्ध-
मसाध्यमात्मानमनीशमीशम् ।
स्वशक्तिसंपूर्णमदेशकालं
नित्यं विभुं भैरवनाथमीडे ॥७॥

इत्थमुक्तप्रकारं स्वमात्मानं स्वसंवेदनं स्वप्रकाशमीडे तत्प्रवणतया देहादिप्रमातृताभिमाननिमज्जनेन

उन्मग्नसंविद्घनस्वरूपे समाविशामीत्यर्थः । ननु एतादृगात्मा केन प्रमाणेन ज्ञातुं शक्य इत्याशंक्याह— 'आदिसिद्धमिति' । सर्वेषां प्रमाणानां जीवितकल्पत्वान्न तत्र पूर्वसिद्धे परमेश्वरे प्रमाणोपयोगः । नच तार्किकादय ईश्वरसिद्धिं कुर्वन्तोऽपि साधयितुं शक्नुयुः, नित्यानवच्छिन्नप्रकाशस्वभावे तत्र उत्पादज्ञप्तिव्यापारानुपपत्तेः । प्रमातापि देहादिः स्वयं जडः कथमजडं प्रतिष्ठापयेत् । संविन्मात्रोऽपि स्वातन्त्र्यवैकल्याज्जडपद्य एव । नचेश्वरं निषेद्धुं कश्चिच्छक्नुयात् निषेद्धुरपि स्वयं तत्स्वभावत्वात् प्रत्युत स्वाभावं व्याहरतः स्ववचनविरुद्धं स्वसत्त्वमेव ज्ञाप्येत इत्याशयतोऽसाध्यमित्युक्तम् । ननु प्रसिद्धा एव ब्रह्माद्या ईश्वराः कथमप्रसिद्धमीश्वरमात्थेत्याशंक्याह— 'अनीशमिति' ईश्वरान्तरानधीनमत एव ईशं स्वतन्त्रं ज्ञातृकर्तृत्वैश्वर्यशालिनम् । ब्रह्माद्यास्त्वधरभूमिस्थास्तदीयैश्वर्यकणैरीश्वरीभूताः अस्वतन्त्रा एवेत्यर्थः । 'आत्मानमिति' ननु परं स्वया समवेतया विश्वशक्तिक्रोडीकारिण्या मुख्यया स्वातन्त्र्यशक्त्या संपूर्णं अत एव देशकालयोस्तन्निर्भासितयोरपि प्रागुक्तयुक्त्या संवित्प्रकाशाधीनजीवितत्वात् संविदं विभेत्तुमशक्यत्वात् तत्कलनाविहीनमत एव 'नित्यं' । कालकलनारहितत्वाद् देशाद्यपरिच्छिन्नत्वेन 'विभुं' । भरणारवणवमनस्वभावत्वात्

भैरवरूपं नाथं स्वामिनं विश्वभरितपूर्णाहन्ताचमत्कारशालिनं शिवस्वरूपमित्यर्थः । एवमस्य प्रकरणस्य तात्पर्यार्थः, यस्मात्संविद्घनात्स्वात्मन इदं विश्वमुदेति तत्र विश्रान्तं प्रतिबिम्बकल्पतया यदिच्छयैवावभासते । यश्च तस्य प्रकाशमानस्यात्मा तेनानावृतो यत् स्वातन्त्र्याद्यत्र चानधिकत्वेऽप्यधिकमिवेदं भाति स एव परमार्थस्वभावोऽनुत्तरप्रकाशात्मा शिवोऽहमस्मि पूर्ण इति एवं शांभवोपायेन सहृदयाश्चिन्वन्तु स्वात्मानमिति ॥७॥

एवमुक्तप्रकारायाः परमार्थचर्चाया अनवरतपरामर्शनेन परशक्त्यनुगृहीताः स्वात्मपरमार्थमयीं त्रिजगतीं पश्यन्तो भैरवधाम्नि नित्यसमाविष्टाः स्युरित्यव्यवहितां सद्यः फलप्राप्तिं स्वसंविदितामावेदयन्नाह—

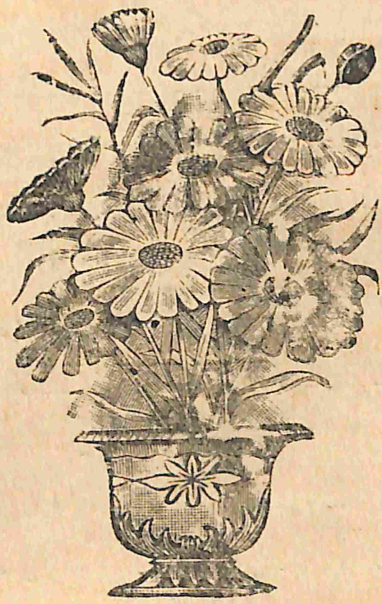
सद्वृत्तसप्तकमिदं गलितान्यचिन्ताः
सम्यक्स्मरन्ति हृदये परमार्थकामाः ।
ते भैरवीयपरधाम मुहुर्विशन्ति
जानन्ति च त्रिजगतीं परमार्थचर्चाम् ॥८॥

स्पष्टम् ॥८॥

इति श्रीमहामाहेश्वर-श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपाद-विरचितायाः परमार्थचर्चायाः पं० हरभट्टशास्त्रिकृतं विवरणं समाप्तम् ॥

श्रीमताभिनवेनेमां रचितां पारमार्थिकीम् ।
चर्चां स्वात्मसमावेशदायिनीं व्यवृणोद्धरः ॥

श्रीशिवार्पणमस्तु ॥



تاسُتھان -

دیکھری

مدھما - کنٹھ

ببسی - ۱۵۵۰ ملی گمل
اورددد

سیرا - ھرد ۱۰۰۰۰ ملی گمل
۱۵۰

لقمی

ॐ

M.N.S[illegible]

ॐ

श्रीरामेश्वराचार्यविरचिता

श्रीगुरुस्तुतिः

★

प्रभादेवीरचितभाषाटीकोपेता

★

वि० संवत् २०२५

मूल्यम् १)

प्रथमावृत्ति

प्रकाशक :—

ईश्वर आश्रम,
ईश्वर पर्वत, गुप्त गंगा,
श्रीनगर, काश्मीर।

मुद्रक :—

इण्डो प्रेस,
श्रीनगर, काश्मीर।
(भारत)

दो शब्द

परम आदरणीय गुरुवर्य श्री ईश्वरस्वरूप की आज्ञा से प्रस्तुत लेखक को श्रीगुरुस्तुति के भाषानुवाद की पाण्डुलिपि पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भाषानुवाद की रचना श्रीप्रभादेवी ने की है और उसका यह प्रयास विशेष कर सुकुमारमति-भक्तजनों का परम-उपकारक होने के कारण अतितरां प्रशंसनीय है।

श्रीगुरुस्तुति वास्तव में चार स्तुतियों का संग्रह है जिस में श्रीरामेश्वराचार्यविरचित गुरुस्तुति, श्रीजियालाल-कौल-विरचित गुरुपरिचयात्मिका श्रीगुरुपादुकास्तुति, श्रीमहामाहेश्वर आचार्य अभिनवगुप्तपाद के द्वारा रचित देहस्थदेवताचक्रस्तोत्र और श्रीश्रीज्ञाननेत्रपाद-विरचित कालिकास्तोत्र संग्रहीत हैं। ईश्वराश्रम में आनेवाले शिष्यवर्ग एवं अन्य भी भक्तजनों के उपकारार्थ श्रीप्रभादेवी ने पहिले तीन का सरलतम एवं सहजबुद्धिगम्य भाषानुवाद प्रस्तुत करके एक बडी कमी को पूरा कर दिया है।

प्रातः स्मरणीय ईश्वरस्वरूप के विषय में यहां पर कुछ लिखना पिष्टपेषणमात्र ही होगा, क्योंकि स्वर्गीय श्रीजियालाल कौल ने श्रीगुरुपादुकास्तुति में जितना उनके विषय में स्पष्ट किया है उससे अन्य किसी व्यक्ति के लिये और कुछ लिखने का अवकाश ही नहीं रहता है। इसके अतिरिक्त श्रीमहामाहेश्वर अभिनवगुप्त जी अथवा श्रीश्रीज्ञाननेत्रपाद जी के विषय में भी शैवशास्त्र के साथ सम्बन्ध रखने वाले विद्वज्जन पहले ही बहुत कुछ जानते हैं, अतः प्रस्तुत लेखक के लिये उन बातों का लिखना भी चमकते दिनकर को दीप दिखाने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। फलतः अवशिष्ट दो लेखकों—श्रीरामेश्वराचार्य और श्रीजियालाल कौल के विषय में ही दो चार शब्द लिखना पर्याप्त होगा।

श्रीरामेश्वराचार्य जी को ईश्वराश्रम में आने वाले बहुत से भक्तजन जानते ही होंगे। इनका जन्म मिथिला में हुआ है और यह संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पंडित हैं। व्याकरण एवं न्याय जैसे कठिनतम विषयों में आचार्य होने के अतिरिक्त इन्हें वेदों वेदाङ्गों और विशेष कर वेदान्त दर्शन पर अभूतपूर्व अधिकार

प्राप्त है। इतने विद्यासमुद्र एवं दर्शनरत्ननिधि का अवगाहन करने पर भी इनको विश्रान्ति रूपी अमूल्य मणि प्राप्त नहीं हुआ था। अन्ततो गत्वा शायद तीव्र शक्तिपात के कारण ही ईश्वराश्रम में इनका आगमन हुआ। विस्मय की बात यह है कि आश्रम में पहुँचते ही इन पर गुरुकृपा होगई और उन्हें चिराभिलषित विश्रान्तिमणि का लाभ हुआ। विश्रान्तिरस से आप्लावित हृदय से जो उद्गार निकल गये वही गुरुस्तुति बन गई।

स्वर्गीय श्रीजियालाल जी कौल (तालिब) हिन्दी संस्कृत जगत से सम्बन्ध रखने वाले किन के गुरु नहीं रहे हैं और कौन उन से परिचित नहीं। इनका जन्म पहली अक्तूबर १९०२ और निधन १६ जनवरी १९६७ में हुआ। यह हिन्दी तथा संस्कृत के प्राध्यापक रहे हैं और अपने जीवनकाल में संस्कृत अथवा हिन्दी के उद्धार के लिये जो कुछ और जितना कुछ इन्होंने किया उतना और कोई शायद ही कर सकेगा। उनका गम्भीर व्यक्तित्व और स्वभाव की सरलता ही उनके गहरे अध्ययन एवं विशेष गुरुकृपा की परिचायिका थी। उनके सम्पर्क में आकर कोई भी व्यक्ति उनके प्रभाव से अछूता नहीं रह पाता था। भक्तिरस से आघूर्णित होकर उन्होंने गुरुपरिचयात्मिका गुरुपादुकास्तुति की रचना की है जिसमें उन्होंने ईश्वरस्वरूप के जीवन के साथ सम्बन्धित रहस्यों का भी उद्घाटन किया है। उनके आकस्मिक निधन की क्षति को काश्मीर का संस्कृत जगत कभी पूरा नहीं कर सकेगा।

अन्त पर फिर भी यह दोहराना उपयुक्त ही होगा कि श्रीप्रभादेवी ने प्रस्तुत भाषानुवाद उन पाठकों को दृष्टिपथ में रख कर किया है जिनको संस्कृत की तो बात ही नहीं प्रत्युत हिन्दी के भी बहुत से शब्दों को समझने में कठिनता आती है। इस विषय को लेकर प्रस्तुत लेखक को कई बार प्रभाजी के साथ वाद विवाद भी हो गया परन्तु अन्त पर दोनों इसी निर्णय पर पहुँच गये कि प्रस्तुत भाषानुवाद में जहां तक हो सके कठिन शब्दों का बहिष्कार ही हो। आशा है कि इस दृष्टि से यह भाषानुवाद यथार्थरूप से सुकुमारमति वाले भक्तजनों का उपकार करने में सफल होगा।

नीलकंठ गुरुटू
हिन्दी-संस्कृत विभाग
अमरसिंह कालेज

श्रीनगर (काश्मीर)
१५-६-१९६८

ओं

श्रीगुरवे नमः ।

श्रीरामेश्वराचार्यकृता श्रीगुरुस्तुतिः ।

गुरुशक्तिर्जयत्येका मद्रूपप्रविकासिका ।
स्वरूपगोपनव्यग्रा शिवशक्तिर्जिता यया ॥१॥

उस अद्वितीय गुरु-शक्ति की जय हो, जिस ने मेरे स्वरूप को विकसित किया है तथा जिस ने उस शिव-शक्ति को जीत लिया है जो स्वरूप का आच्छादन करने में सदा लगी रहती है ॥ १ ॥

यस्य प्रसादादहमेव शम्भु-
र्यस्य प्रसादादहमीश्वरोऽस्मि ।
यस्य प्रसादादहमेव सर्व-
स्तस्मै नमः श्रीगुरवे शिवाय ॥२॥

कल्याण-रूप उन श्रीगुरुदेव को नमस्कार हो जिनके अनुग्रह से मैं शिव बना हुआ हूं, जिन की दया से मैं ईश्वर बना हुआ हूं और जिन की कृपा से मैं सब कुछ अर्थात् विश्वरूप बन गया हूं ॥ २ ॥

शैवप्रजाः स्रष्टुमना महेशो
गुरुक्रमेऽभून्मनुदेवरूपः ।
स्तुमो गुरुं तं परमेष्ठिरूपं
साक्षाच्छिवं श्रीमनुदेवमेव ॥३॥

[illegible] उस परमेष्ठि श्रीगुरुदेव (श्रीमनकाक) की स्तुति करता हूं, जो [illegible] [illegible], तथा जिस का नाम भी मनुदेव था और जो [illegible] [illegible]-संप्रदाय स्थापित रखने की इच्छा रख[illegible] [illegible] करने

विकल्पशान्त्यर्थमिव प्रवृत्ता-
च्छास्त्रात्सदादूरतमस्वभावे ।
संवित्स्वभावे परिवर्तमानो
दृष्टचैव शिष्यानकरोत्स शंभून् ॥४॥

हमारे वह गुरुदेव विकल्पशांति में लगे हुए शास्त्रों के समीपवर्ती संवित्स्वरूप में पूर्णतया ठहरे हुए थे और अपने कृपाकटाक्ष-मात्र से ही अपने समस्त शिष्यों का शिव ही बनाते थे ॥ ४ ॥

तत्सिद्धपादप्रभवत्प्रकाशो
माहेश्वरोऽवाप्तशिवात्मभावः ।
श्रीमानभूद्राम इति प्रसिद्धो
यो मद्गुरोः *कौलिकदैशिकेन्द्रः ॥५॥

उस सिद्ध-योगी मनकाक की दया से प्रकाश-स्वरूप बने हुए परमेश्वर के भक्त तथा पूर्ण शिवात्मभाव प्राप्त किए हुए श्रीराम - नाम से सर्वतः प्रसिद्ध तथा विख्यात व्यक्ति हुए थे। वे श्रीराम ही हमारे गुरु-देव के कौल-संप्रदाय के गुरु हुए थे ॥ ५ ॥

ज्येष्ठोऽप्यसौ मद्गुरुजन्मजात-
हर्षोल्लसद्विस्मृतदेहभावः ।
रामोऽस्म्यहं लक्ष्मण एष जात
इत्येव गायन् सहसा ननर्त ॥ ६ ॥

ये श्रीराम जी वृद्ध होने पर भी मेरे गुरु के जन्म से इतने प्र[illegible] हुए कि एकाएक देह-भाव को भूल कर "मैं राम हूं तथा यह [illegible] बालक लक्षमण है"—यह गाते हुए नाचने लगे ॥ ६ ॥

---

*श्री[illegible] — इति पाठान्तरम् ।

शिष्यान् समुद्बोधयितुं स नित्यं
सदातनं स्वस्य शिवस्वभावम् ।
प्रादर्शयद्देहगतं समक्षं
होराश्चतस्रोऽधिगतः समाधिम् ॥ ७ ॥

वे श्रीराम जी शिष्यों को भली भांति बोध कराने के लिए अपने में सदा विद्यमान शिव-भाव को, चार घंटे तक समाधि लगा कर, प्रत्यक्ष-रूप से देह में ही दिखाते थे ॥ ७ ॥

कृत्यं विधेयस्य जनस्य शेषं
सप्ताब्दकल्पस्य च लक्ष्मणस्य ।
शिष्यप्रधानं महताबकाकं
निर्दिश्य सोऽगान्निजधाम शैवम् ॥ ८ ॥

अपने अनुग्राह्य शिष्य-जनों का अवशिष्ट बोधन तथा लगभग सात वर्ष वाले लक्ष्मण जी का अवशिष्ट प्रबोधनात्मक कार्य अपने प्रधान शिष्य श्रीमान् स्वामी महताबकाक जी को सौंप कर वे श्रीराम जी अपने शिव-धाम को चले गए ॥ ८ ॥

न लक्षणं यस्य न योऽस्ति लक्ष्यः
षडध्वनो योऽस्ति च लक्ष्मभूतः ।
यो लक्ष्मणस्येव च लक्ष्मणस्य
रामो गुरू राम इव स्तुमस्तम् ॥ ९ ॥

...राम जी का कोई लक्षण नहीं है, जो किसी के लक्ष्य ... षडध्वा (वर्ण-म...त्र-पद-कला-तत्त्व और भुवन) रूपी संसार के एक-म... चिह्न अर्थात् जानने योग्य हैं और जो श्रीराम जी मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरा... ...मति दशरथनन्दन लक्ष्मण जी के ...दृश मेरे गुरु श्रीलक्ष्मण जी के गुरु थे ... हम प्रणाम करते हैं ॥ ९ ॥

ऊर्जस्य शुक्ले च तिथौ चतुर्थ्यां
जगज्जिगीषून् स्वत ऊर्जयन्तः ।
आविर्बभूवुर्महताबकाकाः
काश्मीरकण्डाभिधजन्मभूमौ ॥ १० ॥

जगत को जीतने की इच्छा करने वाले अर्थात् संसार-सागर से पार होने वाले शिष्यों को अपने स्वातंत्र्य से ही अनुप्राणित करते हुए, श्री स्वामी महताब काक जी काश्मीर देश के (क्रण्डिगोम) नामक गांव में कार्तिक - शुक्ल - चतुर्थी के दिन उत्पन्न हुए थे ॥ १० ॥

तानद्य सर्वे वयमाविशन्तो
गुरून् स्मरन्तो मनसाथ वाचा ।
विशुद्धभक्त्या प्रणता नमामः
स्थितांश्च ज्ञानप्रभयागतानपि ॥ ११ ॥

आज हम सभी उन्हीं के स्वरूप में समावेश करते हुए तथा मन वाणी से उनका स्मरण करते हुए, शुद्ध भक्ति से उनके चरणों को प्रणाम [illegible]रते हैं, जो इस लोक से चले जाने पर भी ज्ञान-प्रभा के द्वारा गुरु-रूप से विद्यमान ही हैं ॥ ११ ॥

तज्ज्ञानगोत्रे गुरवश्चकासति
ज्ञानप्रभाभिः प्रसृताभिरद्य ।
श्रीलक्ष्मणाख्याः प्रणतां जनानां
दृष्ट्यैव दृष्टेः तमसां विघातकाः ॥ १२ ॥

[illegible] जन्म से [illegible]ने प्र[illegible]

उन (स्वामी महताबकाक जी) के ज्ञान - कुल [illegible] [illegible]ए ज्ञान की प्रभा से देदीप्यमान श्री लक्ष्मण जी गुरु आज भी विद्यमान [illegible] [illegible]गत - प्रणत - शिष्यों की दृष्टि के अन्धकार अर्थात् अज्ञान को [illegible] [illegible] ही दूर करते हैं ॥ १[illegible] ॥

बिभर्त्ति स्वस्मिन् स्वविमर्शशक्त्या
सर्गस्थितिध्वंसमनारतं यः ।
तमच्छमच्छन्नमनन्तरूपं
श्रीलक्ष्मणाख्यं प्रणमामि वन्द्यम् ॥ १३ ॥

जो अपने में ही अपनी ही विमर्शशक्ति के द्वारा जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहृति निरन्तर करते रहते हैं, उन्हीं वन्दनीय, निर्मल, प्रकट रूप से विद्यमान तथा अनन्तस्वरूप वाले सद्गुरु श्रीलक्ष्मण जी को मैं प्रणाम करता हूं ॥ १३ ॥

प्रकाशरूपस्य चिदात्मनस्ते
स्वातन्त्र्यमेतन्नहि किंचिदन्यत् ।
शिवादिपृथ्व्यन्तसमस्तविश्व-
रूपेण चैकोऽपि विभासि यत्त्वम् ॥ १४ ॥

स्वयं एकाकी आप जो शिव से लेकर पृथ्वी रूप तक प्रकाशित हैं, वह सब कुछ चिदात्मा एवं प्रकाश - स्वरूप आप की केवल स्वातन्त्र्य-शक्ति है, अन्य कुछ नहीं है ॥ १४ ॥

त्वय्येव भातः स्मृतिविस्मृती ते
द्वयोरपि त्वं स्वयमेव भासि ।
तथापि सांमुख्यसुखाभिवर्षिणी
स्मृतिः प्रिया ते नहि विस्मृतिर्मे ॥ १५ ॥

हे प्रभु ! यद्यपि आप का स्मरण तथा आप का विस्मरण आप में ही प्रकाशित है और इन दोनों में आप स्वयं प्रकाशमान हैं तथापि आप के सांमुख्य-सुख का वर्षण करने वाली आप की स्मृति ही मुझे प्रिय है, विस्मृति नहीं ॥ १५ ॥

वाचा कया त्वामहमीशमीडे
प्रसादये त्वां क्रियया कया वा ।
यतः सदान्तर्मुखभास्वरूपो
न मायिकं पश्यसि किंचिदेतत् ॥ १६ ॥

मैं किस वाणी से आप की स्तुति करूं और किस क्रिया से आप को प्रसन्न करूं? क्योंकि आप सदा अन्तर्मुख प्रकाश-रूप होने से बहिर्मुख मायिक पदार्थ को देखते ही नहीं हैं। फलतः मेरी वाणी और मेरी क्रिया मायामय होने से आप की स्तुति करने में अथवा आप को प्रसन्न करने में असमर्थ है ॥ १६ ॥

स्तुवन्नपि त्वामहमेमि सद्यः
परामृताधायि चमत्कृतिं ते ।
तथाप्यविच्छिन्नसुखैकधाम
याचे स्वभावं त्वदकृत्रिमं तम् ॥ १७ ॥

यद्यपि मैं आप की स्तुति करता हुआ भी आप के परम-अमृत को देने वाले चमत्कार को क्षण-मात्र में ही प्राप्त कर लेता हूं, तथापि हे अनवच्छिन्न अद्वितीय आनन्द-स्वरूप! मैं आप से, आप के उस अलौकिक अकृत्रिम स्वभाव के लिए याचना करता हूं ॥ १७ ॥

तस्याप्रतर्क्यविभवस्य महेश्वरस्य
पादौ नमामि नयनामृतलक्ष्मणस्य ।
देवस्य यस्य महतः करुणाकटाक्षै-
रालोकितोऽहमिह विश्ववपुर्विभामि ॥ १८ ॥

मैं उन अकल्पित वैभव वाले, नेत्रों को आह्लादित करने वाले, सर्वैश्वर्य-संपन्न सद्गुरु श्रीलक्ष्मण जी के चरणों को प्रणाम करता हूं, जिन महान देवता के कृपा-कटाक्ष से प्रकाशित हुआ मैं विश्वात्मा बन गया हूं ॥ १८ ॥

प्रत्यात्मभूतः परमात्मरूपो
नित्यः शिवः सर्वसुलक्षणोऽसि ।
लोकैरलक्ष्यो विदुषाभिलक्ष्यो
विलक्षणो लक्ष्मण उच्यसे त्वम् ॥ १९ ॥

आप प्रत्येक प्राणी का स्वरूप बने हुए हैं। आप परमात्मा-स्वरूप हैं। आप सनातन, कल्याणमय तथा शुभलक्षणों से संपन्न हैं। आप सामान्यजनों से जाने नहीं जाते हैं, किन्तु ज्ञानियों के द्वारा ही जाने जाते हैं। आप विलक्षण होने पर भी लक्ष्मण नाम से पुकारे जाते हैं ॥ १९ ॥

अनन्तशास्त्रोदधिमन्थनाप्यं
यदात्मतत्त्वं परमामृताख्यम् ।
तद्वर्षिणी यस्य कृपाङ्गदृष्टिः
स त्वं शरण्यः शरणं ममासि ॥ २० ॥

अनन्त शास्त्र-रूप समुद्र के मन्थन से प्राप्त होने योग्य जो आत्म-तत्त्व रूपी परमामृत है, उस की वर्षा करने वाली जिस की कृपा-दृष्टि है वही आप शरणागतों के रक्षक मेरी भी रक्षा करने वाले हैं ॥ २० ॥

शिष्याननेकाञ् जगतः समुद्धर-
न्नासीत्पुरा गुप्तगुरुर्गरीयान् ।
यो लक्ष्मणो लक्ष्मण एष नो गुरुः
पायात्समस्ताञ् शरणागतान् सः ॥ २१ ॥

अनेक शिष्यों को संसार-समुद्र से पार करते हुए जो श्री-अभिनवगुप्त जी के गुरु श्रीलक्ष्मणगुप्त जी पूर्व-काल में हुए हैं, वे ही (आज अवतरित हुए) हमारे सद्गुरु श्रीलक्ष्मण जी हम सभी शरणागत - शिष्यों की रक्षा करें ॥ २१ ॥

शिवस्वरूपोऽपि जगत्स्वरूपः
स्वात्मस्वरूपोऽपि परस्वरूपः ।
नित्योऽपि यो नित्यमनित्यरूप-
स्तस्मै नमः श्रीगुरवेऽद्भुताय ॥ २२ ॥

जो शिव-स्वरूप होते हुए भी जगद्रूप हैं, स्वात्म-स्वरूप होते हुए भी पर-स्वरूप हैं, जो सदैव नित्य होते हुए भी अनित्य-स्वरूप बनते रहते हैं— उन अद्भुत श्रीगुरुदेव को मेरा प्रणाम हो ॥ २२ ॥

दृष्टप्रभावं परिमुच्य देवं
स्तूयात्कथं दासजनः परेशम् ।
युष्मत्कृपापाङ्गनिपीतपापा
भवन्ति सद्यः पशवो महेशाः ॥ २३ ॥

जिन गुरु-देव का प्रभाव दास-जन प्रत्यक्ष रूप से उन की स्तुति करने

उन को छोड़ कर वे दास भक्त-जन अन्य दूसरे की स्तुति कैसे करेंगे, क्योंकि पशुसमान पापी-जन भी आप के कृपा-कटाक्ष से ही क्षणमात्र में निष्पाप बन कर शिव-रूप ही बन जाते हैं ॥ २३ ॥

किं वर्णयामो महताश्च तेषां
भाग्यं भवत्पादरजोऽनुरागिणाम् ।
पुण्यातिसंभारशतैरदृश्यो
येषां भवान् दृक्पथगोचरः शिवः ॥ २४ ॥

जिन महापुरुषों को आप की चरण - धूलि में अनुराग है, उनके भाग्यों की क्या सराहना की जाये, क्योंकि अनन्त पुण्यों से भी दर्शन में न आने वाले आप शिव-स्वरूप उनके संमुख सदैव विद्यमान रह रहे हैं ॥ २४ ॥

श्रीगुरुं तमहं वन्दे कारुण्यरसनिर्भरम् ।
स्वात्मभूतं जगद्भाति यत्कृपापाङ्गपाततः ॥ २५ ॥

मैं दया-रस-पूर्ण उन गुरु-देव की वन्दना करता हूं, जिन के कृपा-कटाक्ष से यह सारा जगत स्वात्म-रूप ही दीख पड़ता है ॥ २५ ॥

नुमः शारिकया जुष्टं प्रभया परिपूजितम् ।
गुरुरूपधरं देवं लक्ष्मणं शान्तविग्रहम् ॥ २६ ॥

ब्रह्मवादिनी शारिका देवी के हृदय द्वारा जो सुसेवित हैं तथा प्रतिभा-रूप प्रभा से जो पूजित हैं, उन शान्त-स्वरूप गुरु-रूप लक्ष्मण जी की हम स्तुति करते हैं ॥ २६ ॥

जयत्येको जगत्यस्मिन् गुरुर्मे भोगमोक्षदः ।
मोक्षलक्ष्मीसमाश्लिष्टो जन्मतो यश्च लक्ष्मणः ॥ २७ ॥

इस संसार में भोग और मोक्ष को देने वाले केवल मेरे अद्वितीय गुरु देव की जय हो, जो जन्म से ही मोक्ष-लक्ष्मी के साथ नित्य-संबन्धित लक्ष्मण नाम से प्रसिद्ध हैं ॥ २६ ॥

नमः श्रीमहसे तस्मै स्वात्मसाम्राज्यदायिने ।
[illegible] भवबन्धच्छिदे दृष्ट्या [illegible] य शूलिने ॥ २८ ॥

स्वात्म-साम्राज्य को देने वाले उन तेजोमय श्रीगुरुदेव को प्रणाम हो जो दृष्टि-मात्र से ही संसार-बन्धन को काट देते हैं। अत एव मनुष्य-रूप में वे साक्षात् त्रिशूलधारी शंकर ही हैं ॥ २८ ॥

वाचा दृशा तथा कृत्या स्वानन्दरसपूर्णया ।
आह्लादं परमं यच्छन् गुरुः केनोपमीयताम् ॥२९॥

श्रीगुरुदेव स्वात्मानन्द-रस-पूर्ण वाणी, दृष्टि तथा कर्म से परमानन्द देते हैं, अतः गुरुदेव की उपमा किस से दी जा सकती है ॥ २९ ॥

निखिलैरिन्द्रियैरेभिर्भिन्नवेद्यप्रदर्शिभिः ।
दर्शितः शिव एवैको येन तस्मै नमो नमः ॥३०॥

जिस गुरुदेव ने भिन्न भिन्न शब्द-स्पर्श-रूप आदि विषयों को दिखलाने वाली उन सब इन्द्रियों के द्वारा एक शिव को ही दिखाया है, उस को बारम्बार नमस्कार है ॥ ३० ॥

स्वानन्दरसकल्लोलैरुल्लसन्नस्म्यहर्निशम् ।
यद्दृष्टिपरिपूतोऽहमाश्रये तत्पदद्वयम् ॥३१॥

जिस गुरु-देव की दृष्टि से पवित्र बना हुआ मैं अपने ही आनन्द-रस-पूर्ण लहरों से अहर्निश (रात दिन) उल्लसित रहता हूं, उसी श्रीगुरु के चरण-कमलों का मैं आश्रय लेता हूं ॥ ३१ ॥

स्वात्मावमर्शसंलग्ना परासहितवैखरी ।
कृता येन गुरोस्तस्य वाचा कुर्यां स्तुतिं कया ॥३२॥

जिस गुरु-देव ने परावाणी सहित वैखरी वाणी को स्वात्म-परामर्श में ही लगा दिया है अर्थात् उस के साथ अभिन्न कर दिया है, उस गुरुदेव की स्तुति मैं किस वाणी से करूं ? ॥ ३२ ॥

गुरुस्तुतिपरैवेयं परासहितवैखरी ।
इत्येवं जानतो मे वाक् का न स्तौति गुरुं कदा ॥३३॥

परासहित जो यह वैखरी वाणी है, वह एकमात्र गुरु की स्तुति करने

में ही लगी हुई है—इस प्रकार जानने वाला जब मैं हूं, तब मेरी वाणी भला किस समय गुरु की स्तुति नहीं करती ॥ ३३ ॥

शाङ्करी शुद्धविद्येव पूर्णकारुण्यनिर्भरा ।
सर्वैश्वर्यप्रदा देवी जयति श्रीगुरुकृपा ॥३४॥

शिव संबन्धि शुद्धविद्या की भांति जो गुरुकृपा पूर्ण-करुणा से लबालब भरी हुई है और जो सभी ऐश्वर्य को देने वाली है, उस गुरु-कृपा की जय हो ॥ ३४ ॥

नुमो गुरुं महाकालजन्मग्रासावभासकम् ।
स्वातन्त्र्योद्भासिताशेषघस्मरं लक्ष्मणं प्रभुम् ॥३५॥

सद्गुरु श्रीलक्ष्मण जी अपनी स्वतन्त्रता से सभी जगत को प्रकाशित करते हैं और उस का ग्रास अर्थात् लय करते हैं। इस भांति जो महाकाल के जन्म और विनाश को भी प्रकाशित करने वाले हैं, उन श्रीगुरु - चरणों को हम प्रणाम करते हैं ॥ ३५ ॥

दीनोद्धारैककृत्याय करुणागाधसिन्धवे ।
अनेकश्रीलसत्काय लक्ष्मणाय नमस्तमाम् ॥३६॥

जिन गुरु-देव का कर्त्तव्य केवल दीनों का उद्धार करना ही है, जो दया के अथाह समुद्र हैं और जो अनन्त ऐश्वर्य से सुशोभित हैं, उन श्रीगुरु लक्ष्मण जी को शतशः प्रणाम हो ॥ ३६ ॥

यस्यां च सत्यामहमेव भामि
सर्वात्मना सर्वविकल्पहीनः ।
यत्नैरलभ्यामतिदुर्लभां तां
श्रीसद्गुरोर्नौमि दयार्द्रदृष्टिम् ॥३७॥

करुणा से आर्द्र बनी हुई सद्गुरु की उस दृष्टि को मैं नमस्कार करता हूं, जो किसी भी यत्न से प्राप्त नहीं की जा सकती है। इसी लिए अज्ञ-जनों के लिए जो अत्यन्त दुर्लभ है तथा जिस दृष्टि के होने पर मैं स्वयं सभी विकल्पों से रहित होकर सब रूप से प्रकाशित हो रहा हूं ॥ ३७ ॥

आज्ञा यदीया तु कृपात्मिकैव
स्पन्दात्मिका कालकलाव्यतीता ।
उन्मेषनामास्ति निमेषगर्भा
बिन्द्वात्मिका नादकलास्वरूपा ॥३८॥
विमर्शरूपा समनात्मिका या
प्रकाशजातापि तदात्मिकैव ।
तं नौमि देवं विदुषां वरेण्यं
श्रीलक्ष्मणं व्यक्तसमस्तलक्षणम् ॥३९॥
(युगलकम्)

जिन सद्गुरु की अनुग्रहरूप आज्ञा स्वतः ही कृपा-रूप है, स्पन्द रूप है और काल की कल्पना से बहुत दूर है। जो उन्मेष - रूप होते हुए ही निमेष - गर्भ वाली है। जो बिन्दु-रूप अर्थात् प्रमातृ - रूप एवं नाद - कला रूप भी है। जो विमर्श के स्वरूप वाली एवं समना के स्वरूप से युक्त है और प्रकाश से उत्पन्न होकर भी स्वतः प्रकाश-रूप है,— उन्हीं ज्ञानियों में श्रेष्ठ, ज्ञान के सभी लक्षणों से परिपूर्ण श्रीमान् लक्ष्मण जी को मैं प्रणाम करता हूं। ३८।३९॥

द्रष्टुं स्वकीयपदपंकजमद्वितीय-
दृष्टिस्त्वयैव विहितात्र न संशयो मे ।
किन्तु प्रभो ! यदनयैव समस्तविश्वं
पश्याम्यतः सकलमेव भवत्स्वरूपम् ॥४०॥

हे प्रभु ! आप ने अपने चरण-कमलों को दिखाने के लिए मुझे अभेद-दृष्टि प्रदान की है, इस में मुझे तनिक - मात्र संशय नहीं है। किन्तु ऐसा होने पर भी मैं इसी अद्वैत - दृष्टि से संपूर्ण संसार देख रहा हूं— अतः यह समस्त जगत तो मुझे आप का ही स्वरूप दिखाई देता है ॥४०॥

आमोदयन्ति हृदयं परितः परागाः
पीयूषवर्षिकिरणै रसयन्ति चन्द्राः ।
देव ! त्वदीयपदपंकजमेति यस्य
स्वान्ते तु तस्य मधुराश्च दिशो भवन्ति ॥४१॥

हे गुरुदेव ! आप का चरण-कमल जिस के हृदय में (क्षणमात्र के लिए भी) प्रकट अर्थात् विकसित हो जाता है, उस का हृदय चरण - धूलि की सुगन्धि से भर जाता है। अमृत की वर्षा करने वाले आप के चरण-नख रूपी चन्द्रमा उसके हृदय को आप्लावित करने लगते हैं तथा उस के लिए सभी दिशायें माधुर्यमय अर्थात् कल्याण करने वाली बन जाती हैं ।। ४१ ।।

जानाति सौख्यं पदपंकजस्य
चेतो मदीयं न भवानपीशः ।
मुक्त्वा द्विरेफं मकरन्दसौख्यं
न वेत्तुमीष्टे कमलाकरोऽपि ।।४२।।

आप के चरण-कमलों के रसास्वादनात्मक सुख को मेरा हृदय ही अनुभव करता है। ईश्वर होते हुए भी आप उस का अनुभव नहीं कर पाते, क्योंकि कमल के मधु के आस्वादन-सुख को भ्रमर को छोड़ कर स्वयं कमलों का समुदाय भी नहीं समझ सकता ।। ४२ ।।

अनन्तजन्मार्जितपुण्यराशेः
फलं त्वदीयस्मृतिगोचरत्वम् ।
लब्धस्य मे देव ! सदैव चेतो
विलोकितुं वांछति तेऽङ्घ्रिपद्मम् ।।४३।।

अनन्त जन्मों में किए हुए पुण्यों का फल जो आप के स्वरूप की स्मृति का पात्र बनना है, उस स्मृति का लाभ प्राप्त करके मेरा मन आप के चरण-कमल का दर्शन सदा ही करना चाहता है । ४३ ।।

देव ! त्वदीयकरुणावरुणालयस्य
कल्लोलशीकरसुसेचनशांततृष्णः ।
नीतस्त्वया धृतकरोऽन्ध इवाहमीश !
संकल्पपंकरहिते सुपथि प्रयामि ।।४४।।

हे देव ! आप के करुणा - समुद्र की हिलोरों से उत्पन्न छींटों के सिञ्चन से मेरी सभी तृष्णा शान्त हो गई है। अतः हे मेरे स्वामी ! ऐसा मैं दूसरे

के द्वारा हाथ से पकड़े हुए अन्धे की भान्ति आप के अनुग्रह से संकल्प रूपी कीचड़ से रहित सुन्दर मार्ग अर्थात् निर्विकल्प-पथ पर आगे आगे जा रहा हूं ॥ ४४ ॥

क्रियां च कालं करणं कलां च
योऽपेक्षते कृत्यविधौ न किंचित्।
कुर्वन्न चाप्नोति च कर्तृभावं
नमो गुरुं तं करुणैकमूर्तिम् ॥४५॥

जो गुरुदेव किसी भी काम के संपादन करने में क्रिया, काल, करण और कला आदि की अपेक्षा नहीं करते हैं और क्रिया को करते हुए भी कर्तापन के अभिमान का विषय नहीं बनते हैं। उन्हीं केवल करुणा के ही स्वरूप वाले श्रीगुरु को हम नमस्कार करते हैं। ४५ ॥

ब्रह्मामृतास्वादशिवस्वभावः
स्वीयस्वभावो भवति प्रसह्य।
पूतस्य ते देव ! कृपाकटाक्षै-
र्भवोऽपि स्वोद्भूततया विभाति ॥४६॥

हे देव ! आप के कृपा - कटाक्ष से पवित्र बने हुए भक्त को, ब्रह्मामृत का आस्वादन करना जो शिव का स्वभाव है, वह हठात् उसका अपना ही स्वभाव बन जाता है। इतना ही नहीं, यह विशाल संसार भी उन्हें अपने से ही प्रकट तथा अपने में ही ठहरा हुआ दिखाई देता है ॥ ४६ ॥

हन्त्री विधात्री जगतोऽपि कर्त्री
कृपैव ते नैव जनस्य बुद्धिः।
सर्वार्त्तिहन्त्री भवदङ्घ्रिभक्तिः
सापि प्रभो ! त्वत्कृपया भवित्री ॥४७॥

हे प्रभु ! आप की कृपा ही जगत की सृष्टि, स्थिति तथा संहार करने में समर्थ है। लोगों की बुद्धि इस (दुर्घट) कार्य को निष्पन्न करने में असमर्थ ही है। आप के चरणों की भक्ति तो सब दुःखों को नष्ट करने वाली है, किन्तु वह भी दास-जनों में आप की कृपा से ही उत्पन्न होती है ॥४७॥

नित्यापरोक्षं तव देव रूपं
प्रकाशमानं परितः पुरस्तात् ।
सर्वादि चाद्यन्तविहीनमेवं
पश्यामि देव ! कृपया तवैव ॥४८॥

हे देव ! आप का नित्य-प्रत्यक्ष-स्वरूप सब ओर से प्रकाशमान ही है। वह स्वरूप सबों का आद्य है एवं स्वयं आदि और अन्त से रहित है। ऐसे आप के स्वरूप को मैं आप की कृपा से ही देखता हूं ॥ ४८ ॥

स्वाराज्यसाम्राज्यपदप्रदायिने
नित्याय शांताय परापरात्मने ।
कारुण्यपूरामृतवर्षिदृष्टये
श्रीदेशिकायामिततेजसे नमः ॥४९॥

जो गुरुदेव स्वात्मराज्य रूपी चक्रवर्ति पदवी को देते हैं, जो नित्य शान्त तथा पर (सूक्ष्म) और अपर (स्थूल) रूप वाले हैं और जिन की दृष्टि करुणा रूपी अमृत की वर्षा करती है, ऐसे अपरिमित तेज वाले श्रीगुरुदेव को प्रणाम हो ॥ ४९ ॥

स्तोतुं त्वां कः समर्थोऽस्ति प्राणबुद्धिप्रवर्तकम् ।
किन्तु प्रभोः प्रसादार्थं ममैतद्वाग्विजृम्भणम् ॥५०॥

प्राण तथा बुद्धि को उत्पन्न करने वाले आप के स्वरूप की स्तुति भला कौन कर सकता है ? ऐसी दशा में भी मेरी यह वाणी आप को प्रसन्न करने के लिए स्वयं उछल पड़ी है ॥ ५० ॥

किं न दत्तं त्वया मह्यं दर्शितं किं न मां पुनः ।
तव स्तुतिपरैवेयं वाणी मे भवतात्प्रभो ! ॥५१॥

हे प्रभो ! आप ने मुझे क्या नहीं दिया और क्या नहीं दिखाया ? अतः (इस भांति आप के द्वारा अनुगृहीत बनी हुई) मेरी यह वाणी केवलमात्र आप की स्तुति करने में ही लगी रहे (यही प्रार्थना है) ॥ ५१ ॥

कुत्र नासि कदा नासि भाति किं वा त्वया विना ।
स्थितं देवं नमस्यामि सेयमर्चा परा मम ॥५२॥

हे गुरुदेव ! आप कहां नहीं हैं ? कब नहीं हैं ? आप के विना प्रकाशित ही क्या होता है ? अतः सर्वथा उपलब्ध अर्थात् प्राप्त आप देव की मैं वन्दना करता हूँ — यही वन्दना मेरी परा पूजा अर्थात् अभेदमयी पूजा है ॥ ५२ ॥

न यत्र वाणी न मनोऽपि यस्मिन्
गुरौ कथञ्चित्क्रमते विशुद्धे ।
कथं स्तुतिस्तस्य भवेत्परं स
भक्तार्थमद्यास्ति गृहीतरूपः ॥५३॥

जिस विशुद्ध अमायीय गुरुरूप में किसी प्रकार की तथा किसी भी रूप से की गई स्तुति-रूप वाणी पहुँच नहीं पाती है तथा जहां चञ्चल मन की गति भी स्थिर हो जाती है। ऐसा होने पर उस की स्तुति कैसे की जा सकती है ? परन्तु उस ऐसी (परशिव-रूप) गुरु-शक्ति ने, भक्तों के हितकार के लिए, आज शरीर धारण किया है ॥ ५३ ॥

येन मानमितिमेयभानतः
संनिवर्त्त्य निजवैभवे शिवे ।
स्थापितोऽस्मि कृपयावलोकित-
स्तं नतोऽस्मि गुरुमेव लक्ष्मणम् ॥५४॥

जिस गुरु-देव ने अपनी कृपा-पूर्ण दृष्टि से मुझे प्रमेय, प्रमाण और प्रमिति के (झंझट-पूर्ण) अनुभव से एकदम लौटा कर अपने शिव-रूप वैभव में ठहराया है, उन श्रीमान् गुरुदेव लक्ष्मण जी को ही मैं नमस्कार करता हूं ॥५४॥

सद्यः प्रपन्नजनताहृदयाम्बुजन्म
संबोधयत्यखिलविश्वमयच्छदैर्यत् ।
तद्देशिकाङ्घ्रिजमहो मिहिरायमाणं
शश्वच्चकास्तु सबलाकृति शाश्वतं नः ॥५५॥

सूर्य के समान आचरण करता हुआ अर्थात् प्रकाश और विकास करने

वाला, गुरु-देव के चरण-कमलों से उत्पन्न जो तेज, शरण में आये हुए जन-समूह के हृदयों को अखिल विश्वमय पत्रों के रूप में विकसित करता है, वह शाश्वत-तेज पूर्णरूप से हम सभी भक्तों के हृदयों में सदा चमकता रहे ।।५५।।

हृदम्बुजदिनेशाय मोहारण्यदवाग्नये ।
शान्तिरात्रिमृगाङ्काय चिद्रूपगुरवे नमः ।।५६।।

जो स्वात्म रूपी गुरुदेव भक्तों के हृदय रूपी कमल को विकसित करने में सूर्य के समान हैं। मोह रूपी भयंकर जंगल को नष्ट करने के लिए जो दावाग्नि अर्थात् जंगल की आग के समान हैं और भक्तों में विद्यमान भेदप्रथा रूपी अन्धकार को नष्ट करने के लिए शान्ति-रात्रि के पूर्ण चन्द्र के तुल्य ही हैं, ऐसे चिद्रूप गुरुदेव को नमस्कार हो ।। ५६ ।।

उपायवनचैत्राय शिवाय शिवयोगिनाम् ।
भविनां भुक्तिमुक्त्यर्थं कल्पवृक्षाय ते नमः ।।५७।।

उपाय रूपी जंगल के लिए जो गुरुदेव चैत्र-मास के समान हैं अर्थात् जैसे चेत महीने के आने पर सभी वन पुष्पित और फलों से युक्त हो जाते हैं, उसी भांति गुरु के सबन्ध से ही सभी उपाय सफल बनते हैं। जो गुरुदेव शैव-योगियों के लिये कल्याण-रूप शिव-स्वरूप हैं तथा ससारी जनों को भोग और मोक्ष देने के किए कल्पवृक्ष के समान मनमांगा फल देते हैं, ऐसे श्रीगुरु को मेरा नमस्कार हो ।। ५७ ।।

स्वात्मविश्रांतिदं यस्य दर्शनं भवतापहम् ।
नमस्तस्मै स्वतन्त्राय पारतन्त्र्यविनाशिने ।।५८।।

जिन गुरुदेव का दर्शन-मात्र संसार के सभी दुखों को दूर करने वाला स्वात्म-विश्रांति को देने वाला तथा स्वयं स्वातंत्र्य-पूर्ण होकर परतन्त्रता को नष्ट करता है, ऐसे श्रीगुरुदेव को मेरा नमस्कार हो ।। ५८ ।।

आद्यन्तहीनोऽस्ति विमोहि यस्य
भातं समस्तं भवमश्नुवानः ।
संकोचशून्यप्रसरत्प्रकाशः
स मे गुरुः केन कथं स्तुतः स्यात् ।।५९।।

जिन व्यापक गुरुदेव का प्रकाश संकोच की मलिनता से रहित होकर केवलमात्र प्रकाश का स्वरूप बना है, जो आदि और अन्त से रहित है और जो संपूर्ण संसार को अपने में विलीन कर रहा है, भला ऐसे मेरे तेजस्वी गुरुदेव की स्तुति कैसे और किन साधनों से की जा सकती है? । ५९ ।।

वाचा निर्मलया सुधामधुरया दृष्ट्या च शिष्यान्निजा-
नुद्धर्तुं नरविग्रहीव रमते यः स्वात्मसंस्थः शिवः ।
तं वन्दे परमप्रकाशनिबिडं स्वेच्छास्फुरद्विग्रहं
कारुण्याम्बुनिधिं महागुरुवरं श्रीलक्ष्मणं सर्वदम् ।।६०।।

जो स्वरूपनिष्ठ शिव मानवशरीर धारण करके अमृत के समान मधुर वाणी और निर्मल प्रकाशरूप दृष्टि से अपने शिष्यों का उद्धार करने की क्रीड़ा करते रहते हैं, उन महान् तेज के भंडार, निजी स्वतंत्र इच्छा शक्ति से देह धारण करने वाले, करुणा के सागर तथा सभी मनोवांछित फल को देने वाले श्रीमान महागुरुवर श्रीलक्ष्मण जी की मैं वन्दना करता हूं ।। ६० ।।

शश्वच्छांतिसमावृतोऽपि विषयैरेभिर्निजोद्भासितै-
र्हासोल्लासविलासकौतुकपरः स्वस्मिन्समन्तात्स्थितः ।
यश्चैतन्यसुधानिधिर्विजयते देवः स एको गुरु-
र्विद्वन्मानसपुष्करप्रविततज्ञानप्रभो लक्ष्मणः ।।६१।।

जो गुरुवर, सनातन शांति से परिपूर्ण होने पर भी अर्थात् अनाख्य-दशा में ठहरे हुए भी, अपने द्वारा ही प्रकाशित इन बाह्य विषयों में भी उन्मेष और निमेष की क्रीडा का रसास्वादन करते रहते हैं, जो सर्वतः अपने स्वरूप में ही विराजमान हैं तथा जिन गुरुदेव की ज्ञान-प्रभा विद्वानों के हृदय की आकाश में फैली हुई है उन चैतन्य-सुधा-सागर श्रीलक्ष्मण जी की जय हो ।। ६१ ।।

पूज्यः श्रीगुरुराजलक्ष्मणशिवः काश्मीरदेशस्थितो
भातु ध्वान्तनिवारको भुवि नृणां चित्ते स शान्तिप्रदः ।
आसीदस्ति भवत्यपि प्रतिदिनं यो लीलया सन्ततं
स्वच्छः स्वाद्भुतशक्तिचक्रविभवस्त्रैलोक्यमेतज्जगत् ।।६२।।

जो परम - पूज्य, निर्मल, मानसिक शांति देने वाले, अपने अद्भुत शक्ति-चक्रों के ऐश्वर्य वाले, अपनी ही लीला से सदा भूत, भविष्यत् तथा वर्तमान काल में इस समस्त त्रिलोकी का स्वरूप बनते रहते हैं, वे काश्मीर देश में ठहरे हुए गुरुराज श्रीलक्ष्मण जी संसार - भर के मनुष्यों के अज्ञान रूपी अन्धकार को नष्ट करते हुए सदा प्रकाशित बने रहें ॥ ६२ ॥

वाणी यस्य सुनिर्मलातिसरसा तापत्रयोज्जासने
यद्दृष्टिं करुणाभरां नतजनोद्धारे परिस्पर्धते ।
यत्रैकापि नतिर्ददाति सकलं साम्राज्यमत्यद्भुतं
तत्रैवास्तु महेश्वरे मम गुरौ श्रीलक्ष्मणे मे रतिः ॥६३॥

(आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक) तीनों सन्तापों को दूर करने तथा शरण में आये हुए भक्त - जनों का उद्धार करने में, जिन गुरु महाराज की सुनिर्मल एवं सरस वाणी, करुणा-पूर्ण दृष्टि के साथ स्पर्धा (होड) करती है और जिन के प्रति किया गया प्रणाम-मात्र ही अत्यद्भुत साम्राज्य प्रदान करता है; उन्हीं मेरे महेश्वर - रूप सद्गुरु श्रीलक्ष्मण जी में मुझे सदा प्रेम बढ़ता रहे ॥ ६३ ॥

Last

श्रीगुरुपदनखजन्मा
जन्मान्धस्यापि प्रकाशयन्नर्थान् ।
स जयति कोऽपि विकासः
प्रकाशमानोऽनवच्छिन्नः ॥६४॥

उस अनुग्रहात्मक किसी अवर्णनीय विकास की जय हो, जो श्रीगुरुदेव के चरणों के नख-चन्द्रों से उत्पन्न हुआ है, जो जन्म से अन्धे (अज्ञानी) को भी ज्ञान से संयुक्त बना कर सभी पदार्थों को शिव-रूप ही दिखाता है और जो अनवच्छिन्न रूप से स्वयं प्रकाशमान है ॥ ६४ ॥

विनाशिताशेषविकल्पबुद्ध्य-
हंरूपमन्त्रार्थविकासिकाभ्याम् ।
देहाद्यहंकारनिर्वर्तिकाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥६५॥

जिस ने सभी विकल्प - रूप बुद्धियों को नष्ट किया है, जिस ने पूर्ण-हन्ता रूपी मन्त्र-वीर्य के सार बने हुए तत्त्व का विकास किया है और जिस ने देह आदि (प्राण, पुर्यष्टक तथा शून्य के) अहंकार को समाप्त किया है, श्रीगुरुदेव के ऐसे उस पादुका-युगल को बारम्बार नमस्कार हो ॥ ६५ ॥

उद्घाटिताद्वैतमहेक्षणाभ्यां
निमीलितद्वैतविलोचनाभ्याम् ।
मोहान्धकारेऽपि विरोचनाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥६६॥

जिसने शिष्यों के अद्वैत रूपी विशाल नेत्रों को खोला है, जिसने भेद-प्रथा रूपी नेत्रों को एकबारगी बन्द कर दिया है और जो मोह रूपी घने अन्धेरे में भी सूर्य के समान दीप्तिमान है—सद्गुरु के ऐसे पादुका-युगल को बार बार नमस्कार हो ॥ ६६ ॥

उदीर्णरागप्रतिरोधिकाभ्यां
विलीनबोधप्रतिबोधिकाभ्याम् ।
अनादिमायामलवारिकाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥६७॥

जो बढ़े हुए राग आदि दोषों को रोकता है, सुप्तप्राय ज्ञान को जो फिर से जगाता है तथा जो अनादि काल की माया से उत्पन्न (तीन आणव, मायीय और कार्म) मलों को हटाता है, गुरुदेव के ऐसे पादुका-युगल को बार बार नमस्कार हो ॥ ६७ ॥

अम्बादिरौद्रचन्तमरीचिकाभ्यां
वर्णादिसर्वाध्वविवर्त्तिकाभ्याम् ।
इच्छादिदेवीततचन्द्रिकाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥६८॥

अम्बा, जेष्ठा, वामा और रौद्री शक्तियां जिन की किरणें बनी हुई हैं, जो 'वर्ण, मन्त्र, पद, कला, तत्त्व और भुवन'—इन षडध्वाओं को उत्पन्न करती हैं तथा 'इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया'— इन शक्तियों के द्वार[illegible] ज्योत्स्ना फैली है, श्रीगुरुदेव को ऐसी पादुका को बारम्बा[illegible]

संसारदावानलघोरताप-
शान्त्यर्थपीयूषमहाह्लदाभ्याम् ।
आप्यायितस्मर्तृजनव्रजाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥६६॥

संसार रूपी दावानल (जंगल की आग) से उत्पन्न भयंकर त्रिविध सन्तापों को शांत करने के लिए जो अमृत-पूर्ण अगाध जलाशय बनी हुई है तथा स्मरण करने वाले जन-समूह को जिन्होंने आप्यायन किया है— श्रीगुरुराज की ऐसी पादुका को बार बार नमस्कार हो ॥ ६६ ॥

समस्तविद्योदधिसारदाभ्यां
श्रीशारिकास्वान्तसुसेविताभ्याम् ।
सच्छिष्यवृन्दैः परिपूजिताभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥७०॥

संपूर्ण विद्या-समुद्र के सारभूत तत्त्व को देने वाले, शारिका देवी जी के मन से सेवित तथा सत्-शिष्य - समूह से समर्चित श्रीगुरु-देव की पादुका को बार बार नमस्कार हो ॥ ७० ॥

प्रभाप्रकाशार्थधृतव्रताभ्यां
तिरस्कृतानादिमनस्तमोभ्याम् ।
मुक्तिप्रदाभ्यां विभवप्रदाभ्यां
नमो नमः श्रीगुरुपादुकाभ्याम् ॥७१॥

जिस पादुका ने स्वात्म-सवित्ति को प्रकाशित करने का ही व्रत धारण किया है—तथा अनादि-काल से चले आने वाले मानसिक अज्ञान को दूर किया है, मुक्ति तथा ऐश्वर्य को देने वाली ऐसी श्रीपादुका को बार बार नमस्कार [illegible] ॥ ७१ ॥

दौर्भाग्यदावाग्निशिवाम्बुदाभ्यां
दूरीकृताशेषविपत्ततिभ्याम् ।
कपाक[illegible]कृतमादृशाभ्यां
नमो [illegible] रुपादुकाभ्याम् ॥७२॥

दुर्भाग्य रूपी जंगल की आग को शान्त करने के लिए कल्याणमय मेघ के समान, सभी विपदाओं की परम्परा को दूर करने वाले तथा मेरे जैसे सद्भक्तों को भी कृतार्थ अर्थात् पारमार्थिक मोक्ष देने वाले गुरु-राज के पादुका-युगल को बार बार नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

इमानि पद्यपुष्पाणि सदाह्लादकराण्यतः ।
लभन्तां स्वीयसाफल्यं गुरुपूजामहोत्सवे ॥७३॥

सदा आनन्द को देने वाले ये श्लोक रूपी पुष्प गुरु-पूजा के महोत्सव पर अपनी सफलता प्राप्त करें ॥ ७३ ॥

गुरुस्तुतिफलं वक्तुं शक्तः शेषोऽपि नो परम् ।
स्वदन्ते स्तुतिकर्तारः फलं सद्यः परामृतम् ॥७४॥

सहस्र-मुख वाले शेषनाग भी श्रीगुरुदेव की स्तुति का फल वर्णन करने में असमर्थ हैं। हम तो केवल इतना ही कहेंगे कि गुरु-स्तुति करने वाले तत्क्षण ही परमामृत रूपी फल का आस्वादन करने लगते हैं। (अतः इस से बढ़ कर और क्या फल हो सकता है? ॥ ७४ ॥

रामेश्वरेण विदुषा
भक्तिप्रेरितचेतसा ।
श्रीगुरोर्लक्ष्मणस्यैषा
रचिता पादुकास्तुतिः ॥७५॥

गुरु-राज की भक्ति से प्रेरित चित्त वाले श्रीमान् विद्वान आचार्य रामेश्वर जी ने श्रीसद्गुरु लक्ष्मण जी की पादुका - स्तुति की रचना की है ॥ ७५ ॥

इति मिथिलादेशस्थ-
श्रीरामेश्वराचार्यवर्य्यस्य
कृतिरियम् ॥

ॐ

कौलेत्युपाह्वश्रीजियालालरचिता

श्रीपादुकास्तुतिः

★

प्रभादेवीरचितभाषानुवादसहिता ।

●

3

ॐ

कोलेत्युपाह्वश्रीजियालालरचिता

गुरुपरिचयात्मिका श्रीपादुकास्तुतिः

गौरीपतिं जगन्नाथं सर्वसंकटनाशिनम् ।
स्वभक्त्यामृतदातारं मुनीनां हितकारिणम् ॥१॥
समावेशरसास्वादपरमाह्लादचेतसाम् ।
योगिनां हृदये नित्यं भासमानं चिदात्मकम् ॥२॥
गुरूणामपि सर्वेषां गुरुं चैकं जगद्गुरुम् ।
नमाम्यहं महादेवं विश्वकल्याणकारिणम् ॥३॥

[तिलकम्]

पार्वतीनाथ जगदीश्वर, समस्त दुःखों के नाशक, अपनी भक्ति से मोक्ष देने वाले, ऋषि - मुनि - जनों के हितकारी, शिव-समावेश - रस का आस्वाद करने से जिन योगियों का हृदय परमानन्द-मय बना हुआ होता है ऐसे योगी - जनों के हृदय में प्रकाशित चिदात्मा प्रभु, एवं समस्त गुरुओं के भी एक गुरु विश्वकल्याणकारी महादेव को मैं प्रणाम करता हूं ॥ १, २, ३ ॥

जयन्ति गुरुदेवानां पादपंकजपांसवः ।
यत्संस्पर्शात्तरन्त्येते जनाः संसारसागरम् ॥४॥

श्रीगुरुदेव के चरण - कमलों की धूलि की जय हो अर्थात् वह चरण-कमलों की धूलि परम-उत्कर्षशालिनी है, जिस के स्पर्श - मात्र से ही सांसारिक-जन संसार - सागर से पार हो जाते हैं ॥ ४ ॥

यज्जन्मपूतां जगतीं विलोक्य
स्वसृष्टिसाफल्यमबोधि धाता ।
नमाम्यहं तं गुरुमीश्वराख्यं
शिष्यान्समस्ताञ्छिवयन्तमेकम् ॥५॥

जिस का जन्म लेने से समस्त त्रिलोकी को पवित्रीभूत देख कर ब्रह्मा जी अपनी जगत्सृष्टि की सफलता समझने लगा, उस अद्वितीय समस्त शिष्यों का कल्याण करने वाले ईश्वर-स्वरूप नाम वाले गुरु-देव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५ ॥

अरण्यमालिन्युदरात्प्रसूतो
नारायणाख्यात् पुरुषोत्तमाच्च ।
स्वरूपभूतोऽस्ति य ईश्वरस्य
नाम्ना क्रियाभिस्तमहं नमामि ॥६॥

पुरुषों में श्रेष्ठ नारायण* जी से जो अरण्यमाली† के गर्भ से उत्पन्न हुआ श्रीलक्ष्मण जी है तथा जो नाम तथा क्रिया से ईश्वर - स्वरूप बना हुआ है, उसे मैं प्रणाम करता हूं ॥ ६ ॥

संश्रुत्य यस्याद्भुतजन्मवार्तां
श्रीरामदेवोऽपि गुरुर्गरीयान् ।
श्रीवासुदेवस्तुतिपद्यमुच्चै-
र्गायन् ननर्तातिमहाप्रमोदः ॥७॥

जिस की अद्भुत जन्म - वार्ता सुनकर सर्वश्रेष्ठ सद्गुरु श्रीरामजी भी, भगवान् कृष्ण जी के उत्पन्न होने के समय गाये गये पद्य‡, उच्च स्वर में गाते हुए आनन्द से विभोर हो कर नाचने लगे ॥ ७ ॥

---

* हमारे गुरुदेव के पिता का नाम श्रीनारायण जी था ।

† अरण्यमाली—हमारे गुरुदेव की माता का नाम था ।

‡ भगवान् कृष्ण जी के जन्म पर गाये गये पद्य ये हैं —
"घटि मंज़ गाश आव् च्याने ज्यनयि ।
जय जय जय जय देवकीनन्दनयि ।।"

अदृष्टपूर्वां परिदृश्य तस्य
दशां गुरोर्विस्मयमावहन्ती ।
संवाददात्री भगिनी शिशोः सा
जगाद नामास्य विनिर्दिश त्वम् ॥८॥

इस बालक की जन्मवार्ता सुनाने वाली भगिनी सद्गुरु श्रीराम जी की अदृष्टपूर्वा (पहिले कभी न देखी हुई) एवं आश्चर्य - जनक दशा देख कर श्रीराम जी से कहने लगी कि हे गुरुदेव ! इस बालक का क्या नाम होगा ? यह कहिए ॥८॥

न नाम जातस्य मया तु कार्यं
कृतास्य संज्ञा विधिनैव पूर्वम् ।
रामोऽस्म्यहं लक्ष्मण एष नूनं
समागतः साम्प्रतमित्युवाच ॥९॥

तब श्रीराम जी ने उसे उत्तर देते हुए कहा-- इस नवजात बालक का नाम भला मैं क्या रखूंगा ? विधाता ने तो इस का नाम पहिले ही रखा है । जब मैं राम हूं तो यह अवश्य लक्ष्मण ही पुनः जन्मे हैं ॥ ९ ।

यथार्थवाणीमवदन्महात्मा
भवो भवस्याभ्युदयाय भूतः ।
तपस्विना तेन तु पूर्वमेत-
च्छिवात्मनाज्ञायि जनैस्तु पश्चात् ॥१०॥

सत्य वाणी को कहते हुए महात्मा श्रीराम जी ने उस संवाददात्री भगिनी से कहा कि यह तो भगवान् शङ्कर ही जगत का कल्याण करने के लिए प्रकट हुए हैं। इस बात को उन शिव-स्वरूप तपस्वी श्रीराम जी ने पहिले ही अर्थात् बालक के जन्म लेने पर ही जान लिया था, शेष सभी लोग तो इस बात से बाद में परिचित हुए ॥ १० ॥

सत्या कथैषा ननु कल्पनैषा
जानाति सर्वोऽपि यतस्तथैनाम् ।
अतस्त्वहं लक्ष्मणनामधेयं
नमामि देवं गुरुमद्वितीयम् ॥११॥

(नवजात बालक की) यह संपूर्ण वार्ता सोलह आने सत्य है, कल्पना नहीं है। क्योंकि सारी जनता भी इस बात को उसी रूप में जानती ही है। अतः मैं लक्ष्मण जी नाम वाले अनुपम गुरुदेव को नमस्कार करता हूं ॥ ११॥

पदार्पणानुग्रहपूतमस्य
कुलं हि सर्वोन्नतया चकास्ति ।
कृत्यैश्च तैस्तैः पुनराबभासे
नमाम्यहं तं गुरुराजमेकम् ॥१२॥

मैं उन अलौकिक गुरुराज को नमस्कार करता हूं जिनके पदार्पण रूपी अनुग्रह से पवित्र बना हुआ इन का कुल सब भांति चमकने लगा अर्थात् प्रशंसित हुआ तथा इन के उन अनेक (अद्‌भुत) कृत्यों से यह कुल पुनः प्रकाशित होने लगा ॥१२॥

आशैशवाद्यो लभते समाधिं
योगीन्द्रनाथः स महाप्रभावः ।
एतद्धि श्रुत्वा चकिता जनाः स्यु-
र्हृष्टाः पुनस्ते विदितप्रभावाः ॥१३॥

महाप्रभावशाली योगीराज हमारे गुरुदेव बाल्य-काल से ही समाधि को प्राप्त करते थे — इस किंवदन्ती को सुन कर सभी लोग आश्चर्य-चकित होते थे, परन्तु पीछे वही लोग प्रत्यक्ष रूप में उस प्रभाव को देख कर अति-हर्षित हो जाते थे ॥१३॥

समाधिलग्नं विषयैर्विमुक्तं
मनोऽस्य भोगेषु नियोजयन्तौ ।
कृतप्रयत्नावनवाप्तकामौ
शिष्यत्वमेवाधिगतौ गुरू स्वौ ॥१४॥
यथा पुरा तत्पितरौ न शेकतुः
सुतस्य बुद्धस्य मनो विचालितुम् ।
महात्मनो धैर्यधनस्य योगिनो
विरागिणस्तत्त्वगवेषणोद्यतम् ॥१५॥

[युगलकम्]

समाधि के सुख का अनुभव करने में तत्पर इस बालक का मन सांसारिक भोगों में लगाने के लिए यद्यपि इस के माता पिता ने अपनी ओर से भरसक प्रयत्न किया, तथापि ऐसा करने में असफल होने पर दोनों गुरु-तुल्य माता पिता बालक के ही शिष्य बन गये। जैसे पूर्वकाल में महात्मा बुद्धदेव के माता पिता, धैर्य धन वाले, योगी, वैराग्य से संपन्न अपने पुत्र के निर्वाण-तत्त्व की खोज में लगे हुए मन को अपने लक्ष्य से हटा न सके ॥१४, १५॥

महताबकाकोऽस्य गुरुर्गरीयान्
परमेष्ठिदेवोऽपि च रामदेवः।
रमणो महर्षिर्दृशि चागतोऽस्य
तमहं गुरुं नौमि गुरुक्रमस्थम् ॥१६॥

इन हमारे श्रीगुरु के गुरुदेव श्री स्वामी महताब काक जी थे। इन के परम-गुरु श्रीमान् स्वामी रामजी थे। हमारे गुरुमहाराज ने महर्षि रमण-भगवान् के भी दर्शन किए हैं। इस भांति गुरुपरम्परा में अवस्थित श्रीगुरुमहाराज को मैं नमस्कार करता हूं॥ १६ ॥

कैशोरकाले दृढनिश्चयोऽसौ
क्षेत्रं समासादितवांस्तपोऽर्थम्।
चकार तत्रैव तपो महात्मा
शोकाकुलाभूज्जननी तु तस्मात् ॥१७॥

हमारे महात्मा गुरुदेव किशोर-अवस्था में ही दृढ-निश्चय वाले बन कर तपस्या करने के लिए (साधु-गंगा नामक) पुण्य-तीर्थ की ओर चले गए और वहां तपस्या करने लगे। उन के इस व्यवहार से उन की माता शोक से व्याकुल हो गईं ॥१७॥

अम्बानुरोधाद् गुरुणा निवर्तितः
प्रत्याजगाम स्वगृहं नवं पुरे।
तत्रैव चक्रे वसतिं ह्यनन्तरं
नतोऽस्म्यहं तं तपसि स्थितं गुरुम् ॥१८॥

माता के अनुरोध करने पर श्रीगुरुवर स्वामी महताबकाक जी ने इन्हें उस तीर्थ से लौटाया। तत्पश्चात् हमारे गुरु-देव [पिता के द्वारा एकान्त में शीघ्रतापूर्वक निर्मित] नवीन घर में आ कर एकान्त में रहने लगे। इस भांति तपोनिष्ठ श्रीगुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ १८ ॥

वसन् हि तत्र स्वगृहे महात्मा
शैवागमाभ्यासरतिं चकार।
मुकुन्दराजानकवर्यसूनु-
र्महेश्वराख्यो हि गुरुर्गरीयान् ॥१९॥
बभूव विद्यागुरुरस्य धीमान्
महात्मनः पुण्यव्रतस्य तत्र।
सत्पात्रन्यस्तां हि तथा स्वविद्यां
संशोभयामास गुरुः स नूनम् ॥२०॥

[युगलकम्]

महात्मा अपने नवीन घर में रहते हुए, शैव-शास्त्रों के अध्ययन में निरत हो गए। हमारे पुण्यात्मा श्रीगुरु-देव के शास्त्र-गुरु श्रीमुकुन्द राज़दान के सुपुत्र बुद्धिमान महामना महेश्वर राज़दान जी थे। उन गुरुवर्यों ने अपनी विद्या को सत्पात्र शिष्य में रख कर अर्थात् उन्हें विद्वान बना कर निश्चय रूप से उस (अपनी विद्या) को अति सुशोभित किया ॥२०॥

तस्मात्सुतीर्थाद्विधिवत्तदानीं
शैवागमाचार्यकृतानि तानि।
सर्वाणि शास्त्राणि परिश्रमेण
पपाठ शीघ्रं गुरुरस्मदीयः ॥२१॥

हमारे गुरुदेव ने उस तीर्थ-स्वरूप सभी शास्त्रों के वेत्ता गुरुदेव से विधि-पूर्वक शैवागम के आचार्यों के द्वारा रचित समस्त शैव-शास्त्रों को अति परिश्रम से तथा अल्प काल में ही पढ़ा ॥२१॥

तथाविधं तं गुरुमद्वितीयं
तथैव शिष्यं स्पृहणीयबुद्धिम् ।
मेने स्वसौभाग्यमिव समीक्ष्य
परां च शोभां समवाप विद्या ॥२२॥

इस प्रकार वैसे अद्वितीय प्रकाण्ड विद्वान गुरु को तथा उसी भांति सराहनीय बुद्धि वाले शिष्य को देख कर, ऐसा अनुमान किया जाता है कि मानो सरस्वती देवी अपने (भावी उदय रूप) सौभाग्य को देख कर परम-शोभा को प्राप्त हुई ।।२२।।

सच्छास्त्रविद्यासमलंकृतोऽसौ
बभौ यथा खे रविचन्द्रतारकाः ।
प्रकाण्डपाण्डित्यविभूषणाभं
नमाम्यहं तं विदुषां शिरोमणिम् ॥२३॥

यह हमारे गुरुवर सत्-शास्त्र अर्थात् शैव-शास्त्र की विद्या के अध्ययन से अलंकृत होकर उसी प्रकार शोभायमान बने, जैसे आकाश में सूर्य, चन्द्रमा तथा नक्षत्र-गण सुशोभित होते हैं। उन्हीं प्रकाण्ड-विद्या के अलंकार बने हुए, एवं विद्वानों के अमूल्य शिरोरत्न गुरुराज को मैं नमस्कार करता हूं ॥२३॥

व्यतीत्य कंचित्समयं तु तत्र
ततो जगामेश्वरपर्वतं हि ।
चकार तत्रैव गृहं सुरम्य-
मुद्यानमध्ये जलपुष्परम्ये ॥२४॥

हमारे गुरुदेव वहां कुछ समय रह कर ईश्वर-पर्वत [प्राचीन ईशब्रारू वर्तमान ईशबर] पर चले गये और उन्होंने उसी पर्वतीय-स्थान में जल और फूलों से रमणीय उपवन में सुन्दर भवन का निर्माण किया ॥ २४ ॥

तदाश्रमस्थानमभूत्प्रसिद्धं
नाम्ना तथार्थक्रियया हि रूढम् ।
भूस्वर्गमध्ये परमेशधाम
तत्र स्थितं नौमि गुरुं परेशम् ॥२५॥

वह हमारे गुरुदेव का आश्रम 'ईश्वर-आश्रम' नाम से तथा उसके अनुरूप क्रिया अर्थात् ईश्वर सम्बन्धी चर्चा से प्रसिद्ध हुआ। (ऐसा प्रतीत होता है कि) स्वर्ग-तुल्य पृथ्वी पर मानो यह आश्रम परमेश्वर का ही धाम है। उसी में रहने वाले परमेश्वर-स्वरूप गुरु महाराज को मैं प्रणाम करता हूं ॥ २५ ॥

श्रियः पुरादेव बहिः समीपे
ह्यस्याश्रमोऽसौ खलु सर्ववन्द्यः।
जनाश्च यत्रात्मसुखं लभन्ते
नमाम्यहं तं गुरुमद्वितीयम् ॥२६॥

मैं अपने अनुपम सद्गुरु को प्रणाम करता हूं जिनका आश्रम सभी लोगों से पूजित तथा श्रीनगर के समीप (होते हुए भी कोलाहल से दूर) है, जहां जाकर सभी भक्त-जन आत्म-सुख को प्राप्त करते हैं ॥ २६ ॥

व्यतीतबाल्यो हि गुरुस्तदानीं
लब्धप्रतिष्ठश्च तपस्विवर्यैः।
तदाश्रमस्थः शुशुभे यथा हि
कैलासपीठोपरि चन्द्रमौलिः ॥२७॥

बाल्य-काल के बीत जाने पर हमारे गुरुदेव ने श्रेष्ठ तपस्वी योगी-जनों से आदर प्राप्त किया। इस आश्रम में रह कर ये वैसे ही शोभायमान हुए जैसे कैलास-पर्वत के शिखर पर चन्द्र-कला-धारी भगवान् शङ्कर शोभित होते हैं ॥ २७ ॥

पोलैण्डफ्रांसादिफिरंगदेशा-
गतस्य लोकस्य सुखेच्छुकस्य।
सुखं समन्तात्कृपया वितन्वते
नमो मदीयगुरवेऽतितेजसे ॥२८॥

पोलैंड फ्रांस आदि पाश्चात्य-देशों से आये हुए सुख की इच्छा रखने वाले जनों में जो अपनी कृपा से पूर्णरूपतया स्वात्म-सुख का प्रसार करते रहते हैं, ऐसे अति तेजस्वी मेरे गुरुदेव को नमस्कार हो ॥ २८ ॥

तदाश्रमस्थानमतीवसुन्दरं
दिव्यैश्च तैस्तैः सुखसाधनैर्युतम् ।
मन्दारतुल्यैस्तरुभिः सुशोभितं
मन्ये हि तन्नन्दनमेव भूगतम् ॥२६॥

वह आश्रम का स्थान भिन्न भिन्न प्रकार के अलौकिक सुख-समग्रियों युक्त बना हुआ बहुत ही सुन्दर देखने मे आता है। मैं तो यही कहूंगा क मन्दार-वृक्ष के समान वृक्षों से शोभायमान वह आश्रम मानो इन्द्र-देव का न्दन नामक उद्यान (बगीचा) ही पृथ्वी पर अवतरित हुआ है ॥२६॥

रक्षीव पृश्चादचलो हि तस्य
पुरो डलाख्यो विमलः सरोवरः ।
भद्रेव कुल्या वहति प्रकर्ष-
वेगातिरम्या मधुरं कणन्ती ॥३०॥

उस आश्रम के पिछले भाग में पर्वत सन्तरी की भांति मानो रक्षा करता है। इस के अगले भाग में 'डल' नामक निर्मल विशाल सरोवर अवस्थित है। मंगलमयी छोटी सी रमणीक नदी पास में ही अति तीव्रता से मधुर कल-कल-शब्द करती हुई बहती है ॥ ३० ॥

यदाश्रमे मे प्रतिभाति नून-
मुग्रस्वभावं परिहृत्य स्वीयम् ।
माधुर्यभावं परिगृह्य नित्यं
शान्तानुकूला रचिताञ्जलिश्च ॥३१॥

भद्रावहासौ धृतपुष्पहस्ता
सौम्यस्वरूपा विनयावनम्रा
दासीव प्रेम्णा प्रकृतिः स्थितास्ति
तं नौमि देवं प्रकृतीशितारम् ॥३२॥

[युगलकम्]

मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि जिस (हमारे गुरुदेव के) आश्रम में प्रकृ

भी अपना भयंकर स्वरूप छोड़ कर मंगलमयी बन कर अपने मधुर-स्वभाव को धारण करती है। सदा शांत और अनुकूल बन कर अञ्जलि बान्ध कर भद्ररूपता (कल्याण-रूपता) का प्रसार करती है और हाथों में फूलों के गुच्छे जैसे ले कर सुन्दर स्वरूप से युक्त तथा विनय से नम्र बनी हुई दासी की भांति स्नेहपूर्वक ठहरी है— उन्हीं प्रकृति पर शासन करने वाले श्रीगुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३१, ३२ ॥

तदाश्रमे भास्करवासरे तु
महान् भवत्युत्सव एव सर्वदा ।
आयान्ति लोकाः पुरुषाः स्त्रियश्च
शिष्यप्रशिष्याश्च तथान्यभक्ताः ॥३३॥

इस आश्रम में प्रति रविवार के दिन निरन्तर रूप से महान् उत्सव ही होता है। इस दिन सभी लोग, पुरुष, स्त्रियां, शिष्य, प्रशिष्य तथा अन्य भक्त-जन भी आते रहते हैं । ३३ ॥

कौतूहलाधिष्ठितमानसा वै
नरस्वरूपास्त्रिदिवौकसश्च ।
सच्छास्त्रव्याख्याश्रवणेप्सया ते
पठन्ति शैवागमपुस्तकानि ॥३४॥

तेषां तु व्याख्यां कुरुते महात्मा
भवन्ति श्रुत्वाथ निवृत्तशङ्काः ।
गच्छन्ति लाभान्वितचेतसोऽपि
भजे गुरुं संशयनाशकं तम् ॥३५॥

[युगलकम्]

रविवार के दिन सत्यतः ऐसा प्रतीत होता है कि मन में कुतूहल लिए ुए देवता भी मनुष्य का रूप धारण करके सत्-शास्त्रों की व्याख्या को (गुरु-ुख से) सुनने की इच्छा रखते हुए शैव-शास्त्रों की पुस्तकों का अध्ययन करते ॥ ३४ ॥

उन शैव-शास्त्रों की व्याख्या हमारे श्रीगुरु महात्मा करते हैं। उस

व्याख्यान को सुन कर उन श्रोताओं की शङ्कायें दूर हो जाती हैं तथा मनो-वाञ्छित लाभ से युक्त होकर घर चले जाते हैं। इस भांति संशय-नाशक श्रीगुरु की मैं सेवा करता हूं ॥३५॥

प्रधानशिष्या ननु शारिकास्य
लल्लेश्वरीवास्ति महाप्रभावा।
वैराग्यभावेन समुज्ज्वलन्ती
त्यागेन धैर्येण च पार्वतीव ॥३६॥

इन गुरुदेव की प्रधान शिष्या श्री शारिका देवी हैं, जो महान प्रभाव से युक्त मानो लल्लेश्वरी ही हैं। वैराग्य की भावना से देदीप्यमान बनी हुई, त्याग से और धैर्य से मानो देवी पार्वती ही हैं ॥३६॥

नारीसहस्रैरभिवन्द्यमाना
यथार्थनाम्नी पुरलेव यास्ति।
सा शांतिदा विष्णुपदीव शुभ्रा
प्रभा प्रभेवास्य महेश्वरस्य ॥३७॥

हजारों स्त्रियों से पूजित होती हुई, दुर्गा के ही समान सार्थक नाम वाली, महेश्वर गुरुराज की प्रभा ही जैसी प्रभा देवी, भगवान् विष्णु की निर्मल-चरण-द्वयी के समान (दर्शन-मात्र से) शांति प्रदान करने वाली है ॥३७॥

देवीद्वयेनाश्रम एष शोभां
बिभर्त्ति दृग्भ्यां वदनं यथा, तत्।
जानाति लोको ननु कथ्यमेत-
न्नमाम्यहं तं गुरुदेवमेकम् ॥३८॥

जैसे दो नेत्रों से मुख शोभायमान होता है, उसी प्रकार इन दो देवियों से यह आश्रम अनुपम शोभा को धारण कर रहा है। यह केवल कहने की ही बात नहीं, प्रत्युत इस बात से सभी लोग परिचित ही हैं। उसी अद्वितीय गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥३८॥

श्रद्धास्पदौ पूज्यतमौ स्मरामि
कीर्त्या वरेण्यौ पितरौ प्रभायाः ।
श्रीशारिकायाश्च शिवस्वरूपौ
श्रीराधिका श्रीजयलालसंज्ञौ ॥३९॥

मैं श्रद्धेय, पूजनीय तथा यश से वरणीय प्रभादेवी तथा शारिका देवी के माता पिता का भी स्मरण करता हूं, जो दम्पति साक्षात् शिवरूप ही थे, और जिनका नाम श्रीराधिकारानी तथा श्री जियालाल जी था ॥३९॥

याभ्यामङ्कुरिता भक्तिः पुत्र्या बाल्ये गुरौ हृदि ।
न वारिता मनुष्याणां सहजासूयया सकृत् ॥४०॥
स्वाभाविकश्च वात्सल्यं हित्वा धृत्यानुमोदिता ।
नमस्ताभ्यां महात्मभ्यां दधद्भ्यां श्रेय उत्तमम् ॥४१॥

[युगलकम्]

जन-समाज में स्वाभाविक ईर्षा के होने पर भी जिन्होंने अपनी पुत्रियों के हृदय में अंकुरित गुरु-भक्ति को एक बार भी नहीं हटाया अपितु अपने स्वाभाविक वात्सल्य को एक ओर रख कर और धैर्य का आश्रय लेकर इन की इस भक्ति का अनुमोदन ही किया। ऐसे प्रतिसमय कल्याण के ही पात्रभूत महात्मा-तुल्य दम्पति को मैं नमस्कार करता हूं ॥४०, ४१॥

स्वस्मिन्सखाप्यस्य च नीलकण्ठः
शिष्यत्वमग्र्यं खलु मन्यमानः ।
छायेव नित्यं ह्यनुवर्तते स्म
नमाम्यहं तं करुणैकमूर्तिम् ॥४२॥

श्री नीलकण्ठ जी (बकाया) यद्यपि हमारे गुरुराज के बाल-मित्र ही थे, तथापि वे अपने को महाराज जी का प्रधान शिष्य ही मानते थे और सदा छाया की भांति ही गुरुदेव के अनुगामी बने रहते थे। उन्हीं करुणा की मूर्ति गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥४२॥

श्रीजानकीनाथमहोदयो हि
बभूव शिष्यः सुमहान् महात्मा ।
पात्रं कृपायाः स बभूव यस्य
नमाम्यहं तं गुरुमूर्तिमीशम् ॥४३॥

हमारे श्रीगुरुदेव का एक शिष्य महामना जानकीनाथ जी अच्छी कोटि के महात्मा थे। वह भी जिन की कृपा का पात्र बना था, उन्हीं ईश्वर-समान गुरु-मूर्ति को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४३ ॥

वैदेशिकाश्चैव फिरङ्गवासितो
ये भारतीया निजराज्यवासिनः ।
वृद्धाश्च बालास्तरुणाः सुखार्थिनो
ज्ञानेच्छुका वा परमार्थकांक्षिणः ॥४४॥
आगत्य ते यं शरणाभिकांक्षिण-
स्सद्यो लभन्तेऽपि मनोऽभिवाञ्छितम् ।
जितेन्द्रियं ज्ञाननिधिं तपोधनं
नमाम्यहं तं सततं वरप्रदम् ॥४५॥

[युगलकम्]

शरण की इच्छा रखने वाले, विदेशी-जन और [illegible] ही देश में रहने वाले भारतीय-जन, सुख की अभिलाषा रखने वाले क्या बूढ़े क्या बालक, क्या युवक, सभी जन ज्ञान की पिपासा या परमार्थ की अभिलाषा से जिन के पास आकर तत्क्षण मनोवांछित फल को प्राप्त करते हैं, उन्हीं इन्द्रियजित, ज्ञान के भंडार, तपोधन से युक्त वरदाता श्रीगुरुदेव को मैं सदा प्रणाम करता हूं ॥४४, ४५॥

आचार्यरामेश्वरझा महात्मा
प्रकाण्डपाण्डित्यविभूषितोऽसौ ।
वेदान्तशैवागमपारदर्शी
सद्धर्मवृद्धोऽपि च मैथिलो यः ॥४६॥

सोऽप्यागतो दर्शनहेतुमस्य
कृता हि तेनापि गुरुस्तुतिश्च ।
तथैव चान्ये बहवो विपश्चितो
वृद्धा युवानो बहवो विदुष्यः ॥४७॥

वैदेशिका भारतवासिनोऽपि
गायन्ति गीतानि तु यस्य कीर्त्याः ।
नमन्ति ते यं सततं हि भक्त्या
तं दैशिकं नौमि च विश्ववन्द्यम् ॥४८॥

[तिलकम्]

महामना श्री आचार्य रामेश्वर जी झा, जो मिथिला देश के रहने वाले, चोटी के विद्वान, वेदान्त तथा शैव-दर्शन के तत्त्व से भली भांति परिचित तथा परिपक्व ज्ञानी माने जाते हैं, वे भी हमारे गुरुदेव का दर्शन करने काश्मीर आये और उन्होंने भी गुरु-स्तुति की रचना की। इसी भांति अन्य ब्राह्मण, वृद्ध, युवक, विद्वान, विदेश में रहने वाले तथा भारतवासी जन भी जिनकी कीर्ति के गीत गाते हैं, तथा जिन हमारे गुरुदेव के प्रति भक्तिपूर्ण भावना से सदा प्रणाम करते हैं, उन्हीं जगत के द्वारा वन्दनीय गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४६,४७, ४८ ॥

यं सर्वलोकाः प्रणमन्ति भक्त्या
दृष्ट्वा हि यं ते सुखिनो भवन्ति ।
स्मर्यंते चापि सदा प्रवासिभि-
र्नमाम्यहं तं स्वगुरुं महेशम् ॥४९॥

जिन हमारे गुरुदेव को सभी जन भक्ति से प्रणाम करते हैं, जिनका दर्शन-मात्र करने से ही सभी सुखी बनते हैं तथा विदेश में वास करने वाले भक्त-जन भी जिनका स्मरण करते रहते हैं, उन्हीं महेश्वर-रूप अपने श्रीगुरु-देव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ४९ ॥

पञ्चाशिका साम्बकृता हि येन
स्तोत्रावली पूज्यतमोत्पलस्य ।
भाषानुवादैः समलंकृते ते
तथैव चान्ये बहवोऽपि ग्रन्थाः ॥
प्रकाशिता लोकहिताय येन
तस्मै नमो मे गुरवे प्रवक्त्रे ॥५०॥

जिन हमारे गुरुदेव ने [भगवान श्रीकृष्ण के पुत्र] श्री साम्ब जी द्वारा रचित 'साम्बपञ्चाशिका' तथा श्रीमान् उत्पलदेव जी द्वारा निर्मित श्री शिवस्तोत्रावली को हिन्दी टीका से अलंकृत किया, और साथ ही अन्य भी बहुतेरे छोटे छोटे ग्रन्थों को लोकोपकार के लिये प्रकाशित किया, उन्हीं प्रवचनशील मेरे गुरुदेव को प्रणाम हो ॥५०॥

श्रीशारदादेशमहार्हरत्नं
श्रीशारदानुग्रहसौम्यपात्रम् ।
देव्या श्रिया चापि विभूषितं तं
नमाम्यहं स्वं गुरुमेव सन्ततम् ॥५१॥

मैं अपने सद्गुरु को निरन्तर रूप से प्रणाम करता हूं, जो श्रीशारदादेश अर्थात् काश्मीर देश के एक अमूल्य रत्न हैं, सरस्वती देवी के अनुग्रह के सुन्दर पात्र बने हैं अर्थात् जो तथ्य रूप में विद्वान् हैं तथा जो मोक्ष- लक्ष्मी से अलंकृत हैं ॥ ५१ ॥

शैवादिसच्छास्त्रमहासमुद्रं
निर्मथ्य रत्नानि* समुद्धृतानि ।
लोकोपकाराय प्रदर्शितानि
येनैव देवोऽस्तु स मे सहायः ॥५२॥

जिन्होंने शैव-शास्त्र रूपी महान् समुद्र का मन्थन करके उस चुने हुए श्लोक रूपी रत्नों को निकाल कर लोकोपकार के लिए प्रकाशि[त किया] वे ही देव-तुल्य गुरु-देव मेरे सहायक बने रहें ॥ ५२ ॥

* 'स्तुति-चन्द्रिका तथा क्रमनयप्रदीपिका'— इन दो ग्रन्थों संकेत किया गया है।

सिद्धिप्रदं यस्य निशम्य वाक्यं
जडोऽपि मूर्खोऽप्यतिचञ्चलोऽपि ।
प्राप्नोति बुद्धिञ्च सुखञ्च शांतिं
नमाम्यहं वै निखिलाद्भुतं तम् ॥५३॥

जिन गुरुदेव की सिद्धि-प्रदा वाणी सुन कर जड अर्थात् मोटी बुद्धि वाला, मूर्ख तथा चञ्चल स्वभाव वाला व्यक्ति (क्रमपूर्वक) बुद्धि, सुख और शांति को प्राप्त करता है, उन्हीं सर्वभाव से अद्भुत स्वरूप वाले गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५३ ॥

जगत्प्रसिद्धं नृवरं मुनीश्वर-
माचार्यवर्यं विदुशां वरेण्यम् ।
सर्वे गुणा यं हि सदाश्रयन्ति
नमाम्यहं तं सकलाश्रयो यः ॥५४॥

जिन जगत में प्रसिद्ध, मनुष्यों में श्रेष्ठ, मुनीश्वर, विद्वानों के द्वारा वन्दनीय परम-उत्कृष्ट आचार्य गुरुदेव को, सभी गुण अपना आश्रय बनाते हैं, उन्हीं सभी के आश्रयदाता गुरुदेव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५४ ॥

स्निग्धा हि दृष्टिः करुणाभरा च
रूपं हि सौम्यं प्रियदर्शनञ्च ।
गिरा हि यस्यामृतवर्षिणी च
नमाम्यहं तं सततं गुरूत्तमम् ॥५५॥

जिन गुरुवर्य की दृष्टि करुणा से परिपूर्ण तथा स्नेह से भरी हुई है, जो देखने में प्रियदर्शी तथा सौम्य-मूर्ति वाले हैं तथा जिन की वाणी अमृत की वर्षा करने वाली है, उन्ही उत्तम श्रीगुरुदेव को मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥५५॥

गार्हस्थचिन्ताचलितं स्वरूपा-
दुद्वेगमाप्नोति यदा हि चेतः ।
स्मृतिस्तदा यस्य सुखावहा तं
स्थितिप्रदं नौमि गुरुं कृपालुम् ॥५६॥

गृहस्थ संबन्धी चिन्ताओं से जिस समय मन अपने स्वरूप से विचलित हो कर क्षोभित बनता है, उस समय जिन गुरु-महाराज की स्मृति उसे सुख प्रदान करती है, उन्हीं स्थिति-प्रद अर्थात् मन को सावधान बनाने वाले कृपालु गुरु-देव को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ५६ ॥

श्रिया सदा शारिकया सुसेवितं
तथैव भक्त्या प्रभया सुपूजितम् ।
महोत्सवे सर्वजनाभिनन्दितं
नमाम्यहं तं गुरुमेव सन्ततम् ॥५७॥

मोक्षलक्ष्मी से युक्त श्री शारिका देवी जिन की भली भांति देख-भाल करती हैं, उसी भांति प्रभादेवी जिनकी पूजा भक्ति से करती हैं, तथा महान उत्सवों पर जो सभी जनता से पूजे जाते हैं, उन्हीं गुरुदेव को मैं सदा नमस्कार करता हूं ॥ ५७ ॥

यस्य प्रसादान्न भयं न दुःखं
सद्यो भवत्येव सुखश्च शांतिः ।
नश्यन्ति विघ्नाः परमार्थमार्गे
तं रक्षितारं गुरुमानतोऽस्मि ॥५८॥

जिन की दया से मनुष्य के सभी भय तथा दुःख नष्ट हो जाते हैं तथा तत्क्षण ही सुख और शांति प्राप्त होती है, (इस के अतिरिक्त) परमार्थ-मार्ग में सभी विघ्न दूर हो जाते हैं, उन्हीं (सब ओर से) रक्षा करने वाले श्रीगुरुदेव को मैं नत-मस्तक होकर नमस्कार करता हूं ॥ ५८ ॥

गुरुप्रसादाच्च सुखी सदाहं
गुरुप्रसादाच्च सदा शिवोऽहम् ।
तस्मात्सदा तस्य दयाभिकाङ्क्षी
तत्पादपद्मं हि सदाश्रयेऽहम् ॥५९॥

गुरु-कृपा के फल-स्वरूप मैं सदा सुखी हूं। गुरु-कृपा के द्वारा ही मैं शिवावस्था पर ठहरा हुआ हूं। अतः गुरुदेव की दया की अभिलाषा से मैं उन के चरण-कमलों का ही सदा आश्रय लेता हूं ॥ ५९ ॥

नमाम्यहं श्रीगुरुपादुकाद्वयं
वदाम्यहं श्रीगुरुदेवनाम ।
करोम्यहं श्रीगुरुपादपूजनं
भजाम्यहं तं सततं शरण्यम् ॥ ६० ॥

मैं श्रीगुरु-देव की पादुका को नमस्कार करता हूं। मैं श्रीगुरु-देव का नाम सदा जपता रहता हूं। मैं श्रीगुरु-देव के चरणों की पूजा करता रहता हूं तथा उन्हीं शरणदाता का मैं सदा भजन करता रहता हूं ॥ ६० ॥

या कापि नारी गुरुभक्तियुक्ता
पठिष्यति स्तोत्रमिदञ्च पुण्यम् ।
सौभाग्यवत्येव सदा लसन्ती
भवेत्सतीनामपि सा हि मुख्या ॥ ६१ ॥

गुरु-भक्ति से संपन्न बनी हुई जो भी कोई स्त्री इस पुण्य-स्तोत्र का पाठ करेगी, वह सौभाग्यवती बन कर सदा प्रफुल्लित रहेगी तथा सभी पतिव्रता स्त्रियों में श्रेष्ठ मानी जायेगी ॥ ६१ ॥

भवन्तु सर्वे गुरुदेवशिष्या
धर्मप्रियाः पापपराङ्मुखाश्च ।
दया सदास्मासु चकास्ति यस्य
नमाम्यहं तं गुरुवर्यमीशम् ॥ ६२ ॥

हमारे गुरु-देव के सभी शिष्य धर्म में प्रीति रखने वाले तथा पाप से विमुख रहने वाले बनें। जिन की दया सदा हमारे पर बनी रहती है, ऐसे ईश्वर-तुल्य सद्गुरु को मैं नमस्कार करता हूं ॥ ६२ ॥

जयति श्रीगुरोरेष
प्राद‍ुर्भावदिनोत्सवः ।
समागता जना यस्मिन्
भवन्ति विमलाशयाः ॥ ६३ ॥

श्रीगुरु-देव के उस महान् जन्मोत्सव की जय हो, जिस शुभदिवस प एकत्रित हुए सभी भक्त-जन निर्मल तथा आनन्द-पूर्ण हृदय वाले बन जा हैं ॥ ६३ ॥

इति शिवम् ।

समाप्ता चेयं कौलेत्युपाह्वश्री-
जियालालरचिता गुरुपरिचयात्मिका
श्रीपादुकास्तुतिः ।

१।
सि
हर्शन
क्त-नर-तु
ो मै

ॐ

अथ

श्रीमन्महामाहेश्वराचार्यवर्य-
श्रीमदभिनवगुप्तपादविरचितं
देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम् ।

असुरसुरवृन्दवन्दितमभिमतवरवितरणे निरतम् ।
दर्शनशताग्र्यपूज्यं प्राणतनुं गणपतिं वन्दे ॥१॥

मैं (पूज्य) प्राण रूपी गणपति को प्रणाम करता हूं, जो सैंकड़ों अथवा सभी शास्त्रों में प्रथम-पूज्य है, जो अभीष्ट वरों के प्रदान करने में लगा हुआ है और जिस की वन्दना देवता तथा असुर-गण करते रहते हैं ॥ १ ॥

वरवीरयोगिनीगणसिद्धावलिपूजितांघ्रियुगलम् ।
अपहृतविनयिजनार्तिं वटुकमपानाभिधं वन्दे ॥२॥

मैं अपान नाम वाले वटुक-भैरव को प्रणाम करता हूं, जो शिष्य-जनों का दुःख दूर करता है और जिस के चरण-युगल की पूजा — श्रेष्ठ वीरों, योगिनियों और सिद्ध-पुरुषों ने की है ॥ २ ॥

आत्मीयविषयभोगैरिन्द्रियदेव्यः सदा हृदम्भोजे ।
अभिपूजयन्ति यं तं चिन्मयमानन्दभैरवं वन्दे ॥

मैं उस चिद्रूप आनन्द-भैरव को प्रणाम करता हूं जिसे ... देवियां अपने अपने शब्द आदि विषय-भोगों से हृदय रूपी ... पूजती हैं ॥ ३ ॥

यद्धीबलेन विश्वं भक्तानां शिवपथं भाति ।
तमहमवधानरूपं सद्गुरुममलं सदा वन्दे ॥४॥

मैं निर्मल अवधान-स्वरूप उस गुरुदेव की वन्दना सदा करता हूं जिस अवधान को अपनी बुद्धि में ठहराने से भक्त-जनों को यह सारा संसार शिव-मार्ग ही दीख पड़ता है ॥ ४ ॥

उदयावभासचर्वणलीलां विश्वस्य या करोत्यनिशम् ।
आनन्दभैरवीं तां विमर्शरूपामहं वन्दे ॥५॥

मैं उस पूर्ण-अहं-विमर्श-रूप आनन्दभैरवी को प्रणाम करता हूँ, जो इस संपूर्ण-विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा संहार रूप लीला लगातार करती रहती है ॥ ५ ॥

अर्चयति भैरवं या निश्चयकुसुमैः सुरेशपत्रस्था ।
प्रणमामि बुद्धिरूपां ब्रह्माणीं तामहं सततम् ॥६॥

मैं उस बुद्धि-रूप ब्रह्माणी (ब्राह्मी भगवती) को सदा प्रणाम करता हूं, जो 'सुरेश-पत्र' अर्थात् इन्द्र संबन्धी पूर्व-दिशा में ठहरी हुई निश्चय रूपी पुष्पों से भैरव-नाथ की पूजा करती है ॥ ६ ॥

कुरुते भैरवपूजामनलदलस्थाभिमानकुसुमैर्या ।
नित्यमहंकृतिरूपां वन्दे तां शाम्भवीमम्बाम् ॥७॥

मैं उस अहंकार-रूप शाम्भवी माता (माहेश्वरी) की वन्दना सदा करता हूं, जो [अ]नल - दिशा (दक्षिण-पूर्व-दिशा) में ठहरी हुई अभिमान रूपी फूलों से भैरवनाथ [क]ो पूजती है ॥ ७ ॥

विदधाति भैरवार्चां दक्षिणदलगा विकल्पकुसुमैर्या ।
नित्यं मनःस्वरूपां कौमारीं तामहं वन्दे ॥८॥

[मैं] उस मन ही स्वरूप वाली कौमारी नामक शक्ति की वन्दना नित्य [करता हूं, जो] दक्षिण दिशा में ठहरी हुई विकल्प रूपी पुष्पों से चिन्नाथ की [पूजती] है ॥ ८ ॥

नैऋतदलगा भैरवमर्चयते शब्दकुसुमैर्या ।
प्रणमामि श्रुतिरूपां नित्यं तां वैष्णवीं शक्तिम् ॥९॥

मैं उस श्रवणेन्द्रिय रूपी वैष्णवी नाम वाली देवी को नित्य नमस्कार करता हूं, जो नैऋत-दल अर्थात् दक्षिण-पश्चिम-कोण में ठहरी हुई शब्द रूपी पुष्पों से भैरव-नाथ की पूजा करती रहती है ॥ ९ ॥

पश्चिमदिग्दलसंस्था हृदयहरैः स्पर्शकुसुमैर्या ।
तोषयति भैरवं तां त्वग्रूपधरां नमामि वाराहीम् ॥१०॥

मैं उस त्वचा रूप वाली वाराही भगवती को प्रणाम करता हूं, जो पश्चिम (वरुण-दिशा) में ठहरी हुई हृदय-हारी स्पर्श रूपी पुष्पों से भैरव-देव को सन्तुष्ट करती है ॥ १० ॥

वरतररूपविशेषैर्मारुतदिग्दलनिषण्णदेहा या ।
पूजयति भैरवं तामिन्द्राणीं दृक्तनुं वन्दे ॥११॥

मैं उस नयन-स्वरूप इन्द्राणी भगवती की वन्दना करता हूं, जो वायु-दिशा (पश्चिम-उत्तर-कोण) में ठहराये हुए देह वाली उत्तम उत्तम सुन्दर रूपों से भैरवनाथ की पूजा करती रहती है ॥ ११ ॥

धनपतिकिसलयनिलया या नित्यं विविधषड्रसाहारैः ।
पूजयति भैरवं तां जिह्वाभिख्यां नमामि चामुण्डाम् ॥१२॥

मैं उस जिह्वा नाम वाली चामुण्डा भगवती को प्रणाम करता हूं, जो कुबेर-दिशा अर्थात् उत्तर दिशा में ठहरी हुई सदैव नाना प्रकार वाले छः रसों (मीठा, सलवण, तीखा, कसैला, खट्टा और कडवा) से भैरवनाथ को पूजती है । १२ ॥

ईशदलस्था भैरवमर्चयते परिमलैर्विचित्रैर्या ।
प्रणमामि सर्वदा तां घ्राणाभिख्यां महालक्ष्मीम् ॥१[illegible]

मैं उस घ्राणेन्द्रिय रूप महालक्ष्मी अर्थात् योगी[illegible]री देवी [illegible] प्रणाम करता हूं, जो ईशान-कोण अर्थात् उत्तर-पूर्व-कोण [illegible] प्रकार के केसर-चन्दन आदि नाना प्रकार के परिमलों (सु[illegible] की पूजा करती है ॥ १३ ॥

षड्दर्शनेषु पूज्यं षट्त्रिंशत्तत्त्वसंवलितम् ।
आत्माभिख्यं सततं क्षेत्रपतिं सिद्धिदं वन्दे ॥१४॥

मैं उस जीवात्मा रूपी सिद्धि-प्रद क्षेत्रपाल को सदा प्रणाम करता हूं, जो सभी षठशास्त्रों में पूज्य माना गया है और जो छत्तीस तत्त्वों से संवलित अर्थात् घेरा हुआ रहता है ॥ १४ ॥

संस्फुरदनुभवसारं
सर्वान्तः सततसन्निहितम् ।
नौमि सदोदितमित्थं
निजदेहगदेवताचक्रम् ॥१५॥

इस प्रकार मैं अपने ही शरीर में ठहरे हुए सदा उदित समस्त-देवता चक्र की स्तुति करता हूं, जो स्वानुभव-गम्य और सभी जड़-चेतन आदि वस्तुओं के भीतर ठहरा हुआ है ॥ १५ ॥

इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादविरचितं
देहस्थदेवताचक्रस्तोत्रम् ।
इति शिवम् ।

ॐ

अथ

श्रीश्रीज्ञाननेत्रपादरचितं

कालिकास्तोत्रम् ।

●

सिततरसंविदवाप्यं सदसत्कलनाविहीनमनुपा[illegible]
जयति जगत्त्रयरूपं नीरूपं देवि ! ते रूपम् ॥१॥

एकमनेकाकारं प्रसृतजगद्व्याप्ति विकृतिपरिहीनम् ।
जयति तवाद्वयरूपं विमलमलं चित्स्वरूपाख्यम् ।

जयति तवोच्छलदन्तः स्वच्छेच्छायाः स्वविग्रहग[illegible]
किमपि निरुत्तरसहजस्वरूपसंवित्प्रकाशमयम् ।

वान्त्वा समस्तकालं भूत्या भंकारघो[illegible]
निग्रहमस्मिन्कृत्वानुग्रहमपि कुर्वंती ज[illegible]

कालस्य कालि ! देहं विभज्य मुनि[illegible]
स्वस्मिन्विराजमानं तद्रूपं कुर्वंती [illegible]

भैरवरूपी कालः सृजति जगत् कारणादिकीटान्तम् ।
इच्छावशेन यस्याः सा त्वं भुवनाम्बिका जयसि ॥६॥

जयति शशाङ्कदिवाकरपावकधामत्रयान्तरव्यापि ।
जननि! तव किमपि विमलं स्वरूपरूपं परं धाम ॥७॥

एकं स्वरूपरूपं, प्रसरस्थितिविलयभेदतस्त्रिविधम् ।
प्रत्येकमुदयसंस्थितिलयविश्रमतश्चतुर्विधं तदपि ॥८॥

इति वसुपंचकसंख्यं विधाय सहजस्वरूपमात्मीयम् ।
विश्वविवर्त्तावर्त्तप्रवर्तकं जयति ते रूपम् ॥९॥

[युगलकम्]

चक्र सदसद्विभेदसूतेर्दलनपरा कापि सहजसंवित्तिः ।
वस्तुग्र उदिता त्वमेव भगवति! जयसि जयाद्येन रूपेण ॥१०॥

जयति समस्तचराचरविचित्रविश्वप्रपंचरचनोर्मि ।
श्रमलस्वभावजलधौ शान्तं कान्तं च ते रूपम् ॥११॥

सहजोल्लासविकासप्रपूरिताशेषविश्वविभवैषा ।
पूर्णा तवाम्ब! मूर्तिर्जयति परानन्दसंपूर्णा ॥१२॥

...लितसकलजगत्त्रयविकटमहाकालकवलनोद्युक्ता ।
...भावविभवप्रभवापि कृशोदरी जयसि ॥१३॥

...जितमसमं रूपत्रयान्तरव्यापि ।
जयति परं किमपि ते रूपम् ॥१४॥

विगालतसदसद्विवेककल्लोलम् ।
भवस्फीतं काल्याः परं ... ॥१...

मे...
इशे... दक्षि...
...क-नर-कु... है
...ी मैं

ऋतुमुनिसंख्यं रूपं विभज्य पंचप्रकारमेकैकं ।
दिव्यौघमुद्गिरन्ती जयति जगत्तारिणी जननी ॥१

भूदिग्गोखगदेवीचक्रलसज्ज्ञानविभवपरिपूर्णम् ।
निरुपमविश्रांतिमयं श्रीपीठं जयति ते रूपम् ॥७॥

॥

प्रलयलयान्तरभूमौ विलसितसदसत्प्रपंचपरिहीनाम् ।
देवि ! निरुत्तरतरां नौमि सदा सर्वतः प्रकटाम् ॥१

याद्दङ् महाश्मशाने द्दष्टं देव्याः स्वरूपमकुलस्थम्
ताद्दग् जगत्त्रयमिदं भवतु तवाम्ब ! प्रसादेन ॥

इत्थं स्वरूपस्तुतिरभ्यधायि
सम्यक्समावेशदशावशेन ।
मया शिवेनास्तु शिवाय सम्यङ्
ममैव विश्वस्य तु मंगलाय ॥२०

कृतिरियं श्रीश्रीज्ञाननेत्रपादाना-
मिति शिवम्

ॐ

नमः शिवाय

मति स्फुरदुरस्यनाहतं गर्भगुम्फितसमस्तवाङ्मयम् ।
वनीति हृदि यत्परं पदं तत्सदक्षरमुपास्महे महः ॥१॥

सम्भुना तुहिनभानुना बृहद्भानुना च विनिर्वर्तितं न यत् ।
तेन तज्झगिति शान्तिमान्तरं ध्वान्तमेति तदुपास्महे महः ॥२॥

जर्ककर्कशगिरामगोचरं स्वानुभूतिसमयैकसाक्षिणम् ।
श्रमलताखिलविकल्पविप्लवं पारमेश्वरमुपास्महे महः ॥३॥

...कारमदंलालितं पद्मनाभनयनाब्जपूजितम् ।
...मुकुटांशुरञ्जितं पादपद्मयुगमैश्वरं स्तुमः ॥४॥

...लितोऽसि तदा हर दुष्कृतं यदि भवोऽसि तदा भव भूतये ।
...भावसि तदा कुरु मे शुभं शमय दुःखमिदं यदि शंकरः ॥५॥

...न्दुशे... शरणं मे गिरिराजकन्यका ।
...व ...वुभो ...रणं नान्यदुपैमि दैवतम् ॥६॥

...पण्डितो हृदये ...शरेण खण्डितः ।
...मण्डनं शरणं या ... शरण्यमीश्वरम्

मनामजपतां कुतो भयं सर्वतापशमनैकभेषजम् ।
ह्य तात मम गात्रसन्निधौ पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।।८।।

ञ्जनेयमतिपाटलाननं काञ्चनाद्रिकमनीयविग्रहम् ।
पारिजाततरुमूलवासिनं भावयामि पवमाननन्दनम् ।।९।।

त्र यत्र रघुनाथकीर्तनं तत्र तत्र कृतमस्तकाञ्जलिम् ।
ष्पवारिपरिपूर्णलोचनं मारुतिं नमत राक्षसान्तकम् ।।१०।।

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यै-
स्तत्रापि नाथ तव नास्म्यवलेपपात्रम् ।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे
नोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ।।११।।

मानुष्यनावमधिगम्य चिरादवाप्य
निस्तारकञ्च करुणाभरणं भवन्तम् ।
यस्याभवद्गुरवशास्तरितुं भवाब्धिं
सोऽहं ब्रुडामि यदि कस्य विडम्बनेयम् ।।१२।।

महेश्वरे वा जगतामधीश्वरे
जनार्दने वा जगदन्तरात्मनि ।
न कापि भेदप्रतिपत्तिरस्ति मे
तथापि भक्तिस्तरुणेन्दुशेखरे ।।१३।।

वामे भूमिसुता पुरश्च हनुमान् पश्चात् सुमित्रासु
शत्रुघ्नो भरतश्च पार्श्वदलयोर्वाय्वादिकोणेषु
सुग्रीवश्च बिभीषणश्च युवराट् तारासुतो
नीलसरोजकोमलरुचिं रामं भजे श्यामल

तव च काचन न स्तुतिरम्बिके
सकलशब्दमयी किल ते तनुः ।
निखिलमूर्तिषु मे भवदन्वयो
मनसिजासु बहिष्प्रसरासु च ॥१५॥
इति विचिन्त्य शिवे! शमिताशिवे!
जगति जातमयत्नवशादिदम् ।
स्तुतिजपार्चनचिन्तनवर्जिता
न खलु काचन कालकलापि मे ॥१६॥

ऊनाधिकमविज्ञातं पौर्वापर्यविवर्जितम् ।
यच्चावधानरहितं बुद्धेर्विस्खलितं च यत्
तत्सर्वं मम सर्वेश भक्तस्यार्तस्य दुर्मतेः ।
क्षन्तव्यं कृपया शंभो ! यतस्त्वं करुणापरः
अनेन स्तोत्रयोगेन तवात्मानं निवेदये ।
पुनर्निष्कारणमहं दुःखानां नैमि पात्रताम्

ॐ शांतिः ! शांतिः !! शांतिः !!!

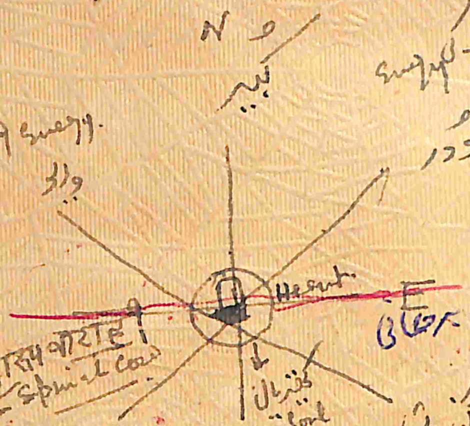
(34) ॐ names of Lord Siv…

जयश्च विजयश्चैव जयन्तश्च पराजितः
सुजयो जयरुद्रश्च जयकीर्ति जयावहः
जयमूर्ति जयोत्साहो जयदो जयवर्धनः
बलाश्चातिबलश्चैव बलभद्रो बलप्रदः ॥
बलावहश्च बलवान् बलदाता बलेश्वरः ।
नन्दनः सर्वतोभद्रो भद्रमूर्तिः शिवप्रदः ॥
सुमनाः स्पृहणो दुर्गो भद्रकालो मनोनुगः
कौशिकः कालविश्वेशौ सुशिवः कोप एव च

एते योनि समुद्भूता स्वतु स्त्रोशात्मकीर्ति

[illegible]

Energy



Energy

Hearing

ego

2 1
4 3

(8) (7) (6)

Heart
soul

Subjects discussed on

16 - स्वर = 16 स्वर

34 व्यंजन = 34

3rd Ahnika ([illegible])

Reflection प्रतिबिम्ब = [illegible]
of Consciousness

[illegible] on
World of Alphabets [illegible]

Source of [illegible]
all Mantras

([illegible]). Universal

---

c/o Shri M.K. [illegible]
E 157 East of Kailash
N. Delhi 24